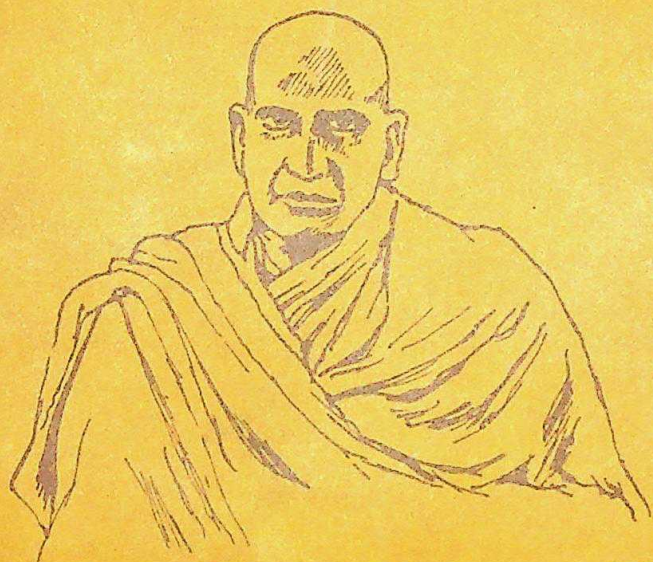




भारतीय नवजागरण और स्वामी श्रद्धानन्द

व्याख्याता

विष्णु प्रभाकर



श्रद्धानन्द राष्ट्रीय प्रसार व्याख्यानमाला

भारतीय नवजागरण और स्वामी श्रद्धानन्द

व्याख्याता
विष्णु प्रभाकर

•

दो शब्द
श्री रामचन्द्र शर्मा
कुलपति

•

संयोजक
डा० विष्णुदत्त राकेश



प्रकाशक
डा० वीरेन्द्र अरोड़ा

कलकत्ता

४ मार्च, १९८७

प्रकाशक

वीरेन्द्र अरोड़ा

कुल सचिव

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

मुद्रक

रूपाभ प्रिंटर्स

विश्ववासनगर, दिल्ली-३३

दो शब्द

रैम्जे मैकडानल्ड ने कहा था कि वर्तमान काल का कोई कलाकार यदि भगवान ईसा की मूर्ति बनाने के लिए कोई जीवित माडल लेना चाहे तो मैं इस भव्य मूर्ति की ओर इशारा करूंगा। यदि कोई मध्यकालीन चित्रकार सेंट पीटर के चित्र के लिए नमूना मांगे, तो मैं उसे इस जीवित मूर्ति के दर्शन करने की प्रेरणा करूंगा। अमर हुतात्मा स्वामी श्रद्धानंद जी महाराज के पुनीत व्यक्तित्व और सार्वभौम जीवनदर्शन के प्रति इससे अच्छी श्रद्धांजलि क्या हो सकेगी ?

स्वामीजी महाराज पंजाब के परम्परागत धार्मिक आस्था सम्पन्न परिवार में जन्मे, विलासिता और धन-सम्पन्न वातावरण में पले तथा पाश्चात्य संस्कृति और अफसरी के परिवेश में बड़े हुए। उनकी शिक्षा वाराणसी के सरकारी स्कूल तथा इलाहाबाद के स्योर सेन्ट्रल कालेज में हुई। काशी और प्रयाग में रहकर हिन्दू-धर्म के ह्लासोन्मुख रूप को उन्होंने निकट से देखा। यदि १८७६ में बरेली में, उन्हें महर्षि दयानन्द न मिलते तो उनका जीवन किस ओर जाता, इसका पता उनकी आत्मकथा 'कल्याण-मार्ग का पथिक' से लग जाता है। महर्षि दयानन्द के सम्पर्क ने उनका काया-कल्प ही कर दिया। पारस के परस से कुधातु भी कंचन हो गई। स्वामी श्रद्धानंदजी ने लिखा है—“मैंने बड़े-बड़े वक्ताओं के व्याख्यान सुने हैं परन्तु जो ओज महर्षि की वाणी में था, वह अन्य कहीं नहीं पाया। उनके भाषणों से श्रोताओं को जो प्रकाश मिलता है वैसा प्रकाश किसी अन्य वक्ता की वाणी से नहीं मिला।” महर्षि दयानन्द के उपदेश की दिव्य ज्योति ने उनकी चेतना के दीप को प्रज्ज्वलित कर दिया। यही कारण है कि भगवान दयानंद के मन्तव्यों, आदर्शों और आकांक्षाओं के व्याख्याकार के रूप में ही नहीं अपितु उनके क्रियात्मक प्रयोगकर्ता के रूप में भी स्वामी श्रद्धानंद के योग-दान को भारतीय इतिहास विस्मृत नहीं कर सकता।

भारतीय स्वाधीनता संग्राम, शुद्धि आन्दोलन, जनजागरण, नारी मुक्ति आन्दोलन, दलितोद्धार, पाखण्ड खण्डन, हिन्दी-प्रचार, समाज-संगठन, पुस्तकारिता तथा सत्साहित्य लेखन के क्षेत्र में उन्होंने जो कार्य किया, उसके आधार पर उन्हें

आधुनिक पंजाब का निर्माता कहा जाता है पर भारतीय शिक्षा के जिस रूप की अवतारणा उन्होंने 'गुरुकुल' के रूप में की, उससे वह समग्र भारतीय अस्मिता के प्रतीक बन गए। प्राचीन ऋषियों की आश्रम प्रणाली का पुनरुद्धार कर भारतीय तथा भारतीयेतर विचारों के श्रेष्ठ अंश के ग्रहण तथा असार के त्याग द्वारा उन्होंने ऐसी राष्ट्रीय शिक्षा प्रणाली को जन्म दिया जिसमें परम्परा और आधुनिकता का सुंदर समन्वय था। वेद, संस्कृत, दर्शन, प्राचीन भारतीय इतिहास और संस्कृति, आर्यभाषा, आयुर्वेद, योग, शारीरिक शिक्षा एवं वेदांगों के साथ भौतिक विज्ञान, गणित, रसायन शास्त्र, प्राणि विज्ञान, मनोविज्ञान तथा कृषि विज्ञान जैसे आधुनिक विषयों के पठन-पाठन को उन्होंने गुरुकुलीय शिक्षा का अंग बना दिया। श्री गोपाल कृष्ण गोखले की सदिच्छा से प्रेरित होकर स्वामीजी ने यह भी विचार किया था कि प्रत्येक नगर के पास और प्रत्येक पांच ग्रामों के समूह के मध्य स्थान में वह एक-एक प्राथमिक हिन्दी माध्यम वाली पाठशालाएं खुल जाएंगे जहां चार वर्ष की पाठविधि होगी तथा जहां हिन्दी, अंग्रेजी, संस्कृत भाषा ज्ञान के साथ प्रत्येक बालक को वैदिक धर्म का ज्ञान भी कराया जाएगा। यही बालक फिर गुरुकुल में प्रविष्ट होंगे। समान शिक्षा, समान लालन-पालन, समान व्यवहार और समान रहन-सहन के आधार पर गुरुकुल में राजा और रंक के बच्चे एक साथ पढ़ेंगे। वे राष्ट्र के लिए समर्पित, सेवाभावी देशभक्त, उच्च आदर्श सम्पन्न तथा उत्तरदायी नागरिक पैदा करना चाहते थे। नवोदय विद्यालयों का पहला स्वप्न पराधीन भारत में स्वामीजी ने ही देखा था। गुरुकुल एक आन्दोलन था, ऐसा आन्दोलन जिसने महामना मालवीय तथा महाकवि रवीन्द्र नाथ ठाकुर को असाधारण रूप से प्रभावित किया। देशबन्धु एन्ड्रयूज जिसकी गतिविधियों से आन्दोलित हुए। महात्मा गांधी ने जिसे पूर्णतः राष्ट्रीय संस्था स्वीकार किया। लाला लाजपत राय ने तो यहां तक कह दिया था—“स्वामी श्रद्धानंद ने जिस वृक्ष को लगाया है, उसको पानी देना तुम्हारा काम है।” मैं काका कालेलकर की यह श्रद्धांजलि कभी भूलता नहीं हूँ—“सचमुच श्रद्धानंद राष्ट्र मूर्ति थे। ऐसा समय जरूर आएगा कि जब उनके द्वेषी और विरोधी भी स्वीकार करेंगे कि यह भारतवर्ष का आधुनिक संन्यासी मित्र की नजर से ही सभी की तरफ देखता था।”

मैं समझता हूँ, अब वह समय आ गया है, जब हमें स्वामीजी के प्रदेय का आधुनिक संदर्भों में मूल्यांकन करना है। इस कार्य के लिए तथा नई पीढ़ी के उद्बोधन और मार्गदर्शन के लिए हम स्वामीजी की स्मृति में एक राष्ट्रीय स्तर की व्याख्यानमाला का आयोजन करने जा रहे हैं। इसमें साहित्य, संस्कृति, दर्शन, विज्ञान तथा समाज सेवा पर विश्रुत विद्वानों के व्याख्यानों का सिलसिला शुरू होगा। प्रसिद्ध विद्वानों के इस आयोजन के अन्तर्गत हिन्दी के अतिशय साहित्य-

कार तथा गांधीवादी विचारक श्री विष्णु प्रभाकर व्याख्यान के लिए हमारे बीच उपस्थित हैं।

श्री प्रभाकरजी ने स्वामीजी के शानदार व्यक्तित्व तथा राष्ट्रव्यापी कर्तृत्व पर विद्वतापूर्ण व्याख्यान देकर हमारा मार्ग-दर्शन किया। मैं गुरुकुलवासियों की ओर से उनके प्रति कृतज्ञता अर्पित करता हूँ।

व्याख्यानमाला के संयोजक तथा हिन्दी विभागाध्यक्ष डा० विष्णुदत्त राकेश को इस आयोजन के लिए साधुवाद।

रामचन्द्र शर्मा

४ मार्च, १९८७

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

आई० ए० एस० (से० नि०)

कुलपति

सम्मान्य कुलपति महोदय, प्राध्यापकवृन्द तथा अन्य साहित्य-प्रेमी स्नेही जनो,

सबसे पहले मैं विश्वविद्यालय के कुलपति सम्मान्य श्रीरामचन्द्र शर्मा तथा 'श्रद्धानन्द राष्ट्रीय प्रसार व्याख्यान माला' के संयोजक मित्रवर डाक्टर विष्णुदत्त 'राकेश' का हार्दिक आभारी हूँ जिन्होंने मुझे एक ऐसे राष्ट्रीय शिक्षण संस्थान में भाषण देने के लिए आमंत्रित किया जिसकी स्थापना स्वयं उस व्यक्ति ने की थी जो आज मेरे व्याख्यान का विषय है।

मैं आज क्या हूँ, मैं स्वयं नहीं जानता। जानने की विशेष चिन्ता भी नहीं है। जो हूँ, सो हूँ पर जो हूँ उसके निर्माण में 'किस-किस का योगदान रहा है' इसका लेखा जोखा लेता हूँ तो सबसे पहले और सबसे ऊपर 'आर्य समाज' का नाम दृष्टि-पथ में आता है। मैं आज आर्यसमाज में 'नहीं' हूँ पर आर्य समाज तो मेरे रक्त मांस में इस तरह रच-बस गया है कि मुक्ति पाना चाहूँ तो भी न पा सकूँ।

मुझमें आज जो कुछ भी, जितना कुछ भी, शुभ और सुन्दर है वह मेरी अपनी कमाई नहीं है। वह तो मुझे आधुनिक भारत के दो युग-निर्माताओं की कृपा से सहज ही प्राप्त हो गया है। वे युग पुरुष हैं स्वामी दयानन्द और महात्मा गांधी। उन दोनों की पावन छाया मेरी सदा रक्षा करती रही है और करती भी रहेगी।

स्वामी दयानन्द के बाद आर्यसमाज के जिस दूसरे व्यक्ति ने मुझे सबसे अधिक प्रभावित किया वह स्वामी श्रद्धानन्द ही आज मेरे व्याख्यान का विषय है। जिन व्यक्तियों ने अनायास ही मुझे उनकी चरित्र रूपी गंगा में डुबकिया लगाने का अवसर प्रदान किया उनके प्रति आभार प्रगट करना मात्र शिष्टाचार होगा। मन की भावना को प्रगट करने वाली भाषा का तो अभी आविष्कार ही नहीं हुआ है।

इस भाषण में जो विचार प्रगट हुए हैं वे नितान्त मेरे हैं। प्रार्थना है कि उनके पीछे कोई गूढ़ार्थ खोजने की चेष्टा आप न करें। हर व्यक्ति को देखने का एक ही कोण नहीं होता। अनेक होते हैं। उन अनेकों में मेरा भी 'एक' है, न इससे अधिक, न इससे कम।

तो इस क्षमा याचना के साथ अनुमति चाहता हूँ अपना भाषण शुरू करने की—

“विशाल शरीर में विशाल आत्मा” स्वामी श्रद्धानन्द इस सत्य के मूर्तिमान स्वरूप थे। महात्मा गांधी के शब्दों में, “वे अपने विश्वास का पालन करते थे। उन विश्वासों के लिये उन्हें कष्ट झेलने पड़े। भय के सामने उन्होंने कभी मिर नहीं झुकाया। उनसे बढ़कर बहादुर आदमी मैंने संसार में दूसरा नहीं देखा। मरने का उन्हें डर नहीं था क्योंकि वे सच्चे आस्तिक और ईश्वर भक्त थे। मैं साक्षी हूँ कि देश के लिये अपना शरीर भेंट कर देने की उन्होंने प्रतिज्ञा की थी। वे अनाथ बन्धु थे। अछूतों के लिए जितना उन्होंने किया उससे अधिक हिन्दुस्तान में किसी दूसरे व्यक्ति ने नहीं किया...”

उनके मृत्यु का वरण कर लेने के वाद गांधी जी ने लिखा था, “मृत्यु किसी समय भी सुखदायक होती है। उस वीर के लिये दुगुनी सुखदायक होती है जो अपने ध्येय और सत्य के लिये प्राणों का विसर्जन करता है। इसलिये मैं उनकी मृत्यु पर शोक नहीं मना सकता। उनसे और उनके अनुयायियों से मुझे एक प्रकार से ईर्ष्या होती है क्योंकि यद्यपि श्रद्धानन्द जी मर गये हैं तथापि वे जीवित हैं। वे उससे भी अधिक सच्चे अर्थ में जीवित हैं जब वे अपनी विशाल देह के साथ हमारे बीच में विचरण करते थे। जिस कुल में उनका जन्म हुआ और जिस देश के साथ उनका सम्बन्ध था वे उनकी इस प्रकार की शानदार मृत्यु पर बधाई के पात्र हैं। वे वीर के समान जिये और वीर के समान मरे...”

गांधी जी में मनुष्य को पहचानने की अद्भुत क्षमता थी। अनेक मतभेदों के बावजूद उनका यह मूल्यांकन इस दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है। उन्होंने स्वामीजी को मात्र साहसी और वीर पुरुष ही नहीं कहा है बल्कि भय को जीतने वाला कहा है और जो भय को जीत लेता है वह घृणा को भी जीत लेता है। वह सचमुच पुरुषों में पुरुष और नरों में नर होता है अर्थात् वह नारायण का सखा नर होता है।

भारत के प्रथम प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू अनेक नेताओं के कटु आलोचक रहे हैं। वे अपनी भावनाओं को छिपाना नहीं जानते थे। अपनी आत्मकथा ‘मेरी कहानी’ में स्वामी श्रद्धानन्द का मूल्यांकन करते हुए उन्होंने उनका जो शब्द-चित्र प्रस्तुत किया है वह किसी भी शब्द शिल्पी के लिए ईर्ष्या का विषय हो सकता है। वह लिखते हैं—“विशुद्ध शारीरिक साहस का अथवा किसी भी शुभकार्य के लिये शारीरिक कष्ट सहन करने एवं उस कार्य के लिये मृत्यु तक की परवाह न करने वाले गुणों का मैं सदा प्रशंसक रहा हूँ। मैं समझता हूँ कि हम सभी व्यक्ति ऐसे अद्भुत साहस करते ही हैं। स्वामी श्रद्धानन्द में इस प्रकार का निर्भीकतापूर्ण साहस आश्चर्यजनक मात्रा में विद्यमान था। वृद्धावस्था में भी उनकी उन्नत सीधी आकृति, सन्यासी के वेश में भव्य मूर्ति, दीर्घकाया, शाहाना सूरत, अन्तर्भेदी दीप्त नयन और कभी-कभी दूसरों की कमजोरियों पर चेहरे पर उभर आने वाली झुंझ-लाहट या गुस्से की छाया का गुजरना—मैं इस जीवन्त मूर्ति को कैसे भूल सकता हूँ। प्रायः यह तसवीर मेरी आंखों के सामने आ खड़ी होती है।”

इस शब्द-चित्र में नेहरू जी ने भी जिस एक गुण को विशेष रूप से रेखांकित किया है वह निर्भीकता ही है। और कवि तो क्रान्तदृष्टा होता है। विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर स्वामी जी के अन्तर में झांकते हुए न केवल उनकी निर्भीकता को वरण करते हैं बल्कि सत्य के प्रति उनकी अगाध श्रद्धा को भी पहचान लेते हैं, “श्रद्धानन्द जी की भारत को देन उनकी सत्य में अगाध श्रद्धा है। श्रद्धानन्द यह नाम ही उनकी उस भावना का परिचायक है। वे नित्य प्रतिश्रद्धावान् थे और उसी में आनन्द मनाते थे। उनके लिये सत्य और जीवन एक हो गये थे। सत्य ही जीवन

था और जीवन ही सत्य था। उनकी मृत्यु उनके निर्भीक और अनथक प्रयत्नों के अमर चित्रों को आलोकित करती हुई एक प्रकाश किरण की तरह हमारे सामने आती है।”

विश्व-कवि की तरह ही भारत-कोकिला सरोजिनी नायडू अपनी अप्रतिम काव्यमयी भाषा में अपने ‘अनुराग के इस आराध्य देवता’ की मूर्ति का रेखांकन इस प्रकार करती हैं, “मैं सदैव अनुभव करती रही हूँ कि स्वामी श्रद्धानन्द भारत के वीर काल की एक दिव्य विभूति थे। अपने भव्य और उन्नत व्यक्तित्व के द्वारा वे अपने साथियों में देवता की तरह विचरण करते थे। वह एक बड़े शिक्षा केन्द्र गुरुकुल कांगड़ी के (संस्थापक) मुख्याधिष्ठाता भी रहे। यद्यपि उन्होंने कभी किसी बड़े विश्वविद्यालय में शिक्षा प्राप्त नहीं की थी तो भी वे अपने जीवन के अन्तिम क्षण तक जो शहादत से आलोकित हो उठा था, साहस और कर्मयोग की अनुपम मूर्ति रहे और भारतीय जीवन के धार्मिक तथा आध्यात्मिक क्षेत्र में और राष्ट्र सुधार के कार्यों में इन गुणों का सुन्दर और सटीक परिचय देते रहे। मानव समाज की सेवा के संबंध में उनके भावों का मैं बहुत आदर करती हूँ।”

देश में ही नहीं देश के बाहर भी ‘कल्याणमार्ग के इस पथिक’ की कर्त्तव्य-निष्ठा, मानव मात्र के प्रति प्रेम, सत्य के प्रति अगाध निष्ठा और आत्म त्याग और कष्ट सहन करने की अद्भुत क्षमता की तीव्र ज्योति जगमगा उठी थी। भारत भक्त प्रेममूर्ति सी० एफ० एंड्रयूज उनकी ‘स्वच्छ और निर्मल मैत्री’ पर सदा गर्व करते रहे। उनकी मृत्यु पर उन्होंने कहा था, “उनकी पुण्य-स्मृति का सम्मान करने का एकमात्र मार्ग यही है कि हम उन निर्धनों को जिन्हें वे अपने अन्तरतम से प्यार करते थे अपना प्रभु समझें।”

और ग्रेट ब्रिटेन के मजदूर दल के नेता तथा एक समय के प्रधान मंत्री रेम्जे मैकडानल्ड उनके रूप पर, जो अन्तर के आलोक से आलोकित था, मुग्ध होकर कह उठे थे—“वर्तमान काल का कोई कलाकार यदि ईसा की मूर्ति बनाने के लिए कोई जीवित माडल सामने रखना चाहे तो मैं इस भव्य मूर्ति की ओर संकेत करूंगा। यदि कोई मध्यकालीन चित्रकार सेंट पीटर के चित्र के लिये नमूना मांगेगा तो मैं उसे इस जीवित मूर्ति के दर्शन करने की प्रेरणा दूंगा।”

ऊपर हमने दो राष्ट्र पुरुषों, दो सर्जकों और दो भारत भक्त विदेशियों के द्वारा किया गया उनका बोलता मूल्यांकन प्रस्तुत किया है। इस मूल्यांकन में जिन शब्दों का प्रयोग हुआ है वे मात्र शब्द नहीं हैं बल्कि ‘अर्थ’ का समन्वित रूप हैं। अर्थ पहले होता है, शब्द मात्र उसे आकार देते हैं। इसी कारण सम्भवतः शब्द को ब्रह्म कहा गया है। ब्रह्म ही स्रष्टा है और शब्द भी स्रष्टा है। लेकिन शब्द किसी नयी वस्तु का स्रजन नहीं करता बल्कि जो अर्थ पहले से मौजूद है उसे ही रूपायित करता है। इसे यों कहना और भी सार्थक होगा कि स्वामी श्रद्धानन्द ने जो जीवन जिया

था उसी को उपरोक्त महापुरुषों ने शब्दों में रूपायित किया है। अनादिकाल से कवि शब्दों के माध्यम से जीने की इसी कला को नाना रूपों में रेखांकित करता आया है या कहें पुनः सर्जित करता आया है।

लेकिन क्या यह आश्चर्यजनक नहीं लगता कि जो व्यक्ति जीवन को इतनी ऊँचाइयों पर प्रतिष्ठित कर सका, वह प्रारम्भ में वही सब कुछ करता था जो छोटे-मोटे विलासी जमींदार और रईस करते रहे हैं। तब उस व्यक्ति का नाम था मुंशी-राम और मांस-मदिरा और नारी, कुछ भी नहीं छूटा था उससे। लेकिन पतन के उस मोहक मार्ग पर आगे बढ़ते हुए भी उसमें ऐसा कुछ था जो एक आवारा व्यक्ति को अन्ततः मसीहा बना देता है। अपराजेय कथा-शिल्पी शरत् ने पाप की कौन-सी गली में पैर नहीं रखा? कौन-सा कुकर्म नहीं किया? पर फिर भी वह गर्व से यह कह सके, “मेरा जीवन अन्ततः मानो एक उपन्यास ही है। इस उपन्यास में सब कुछ किया है पर छोटा काम कभी नहीं किया है। जब मरुंगा निर्मल खाता छोड़ जाऊंगा। उसके बीच स्याही का दाग कहीं भी नहीं होगा।”

यह छोटा काम क्या है, इसकी व्याख्या इतनी महत्त्वपूर्ण नहीं है जितनी महत्त्वपूर्ण यह बात है कि इस प्रकार का दावा करने वालों में वह कौन-सी विशेषता होती है जो उन्हें ‘कल्याण मार्ग का पथिक’ बना देती है और भीतर की इन्सानियत को नष्ट नहीं होने देती।

ऐसे मनुष्यों के भीतर एक कुरेदना होती है, एक जिज्ञासा होती है कि जो है, उससे आगे कुछ और है। उससे इतर भी कुछ और है। उनकी चिन्तन की प्रक्रिया और तलाश निरन्तर प्रवहमान रहती है। ‘नेति-नेति’ न इति, न इति, इतना ही नहीं, इतना ही नहीं, और भी है। यहीं तक नहीं, यहीं तक नहीं—और आगे भी है। यही नहीं है, कुछ और भी है।

वैज्ञानिक युग में सत्य से बढ़कर सत्य की तलाश का महत्त्व होता है। जो महाप्राण हैं वे अन्धी-गलियों में विचरण करते हुए भी तलाश का दिया जलाए रहते हैं। यह दिया ही उन्हें अपने सही मार्ग को खोज लेने में मदद करता है। आवारा या पथभ्रष्ट व्यक्ति नितान्त गुणहीन नहीं होता, केवल दिशाहीन होता है। ऊर्जा उसमें होती है बल्कि कुछ अधिक ही होती है और जब इस ऊर्जा को दिशा मिल जाती है तो वह मसीहा ही बनता है।

स्वामी श्रद्धानन्द आर्य समाज के प्रथम पंक्ति के नेताओं में अन्यतम थे। पर यह योग्यता उन्हें विरासत में नहीं मिली थी। इस विश्वास को उन्होंने स्वयं अर्जित किया था। जो विरासत में मिलता है उसका सही-सही मूल्य हम नहीं आंक सकते पर जो हम स्वयं अर्जित करते हैं वह हमारा वास्तविक मूलधन होता है। उस मूल-

धन को प्राप्त करने की योग्यता भी होनी चाहिए। उसी योग्यता का नाम है तलाश। इसी तलाश ने कहां-कहां नहीं भटक़ाया मुन्शीराम को। विरासत में उन्हें विलासिता के साथ-साथ धर्म में अटूट आस्था भी मिली थी। जिन दिनों वह अपने पिताजी के साथ बनारस में रह रहे थे उन दिनों सारी विलासिता के बावजूद वह नित्यप्रति विश्वनाथ के दर्शन करने जाया करते थे। एक दिन क्या हुआ कि पुलिस कांस्टेबल ने उन्हें अन्दर जाने से रोक दिया, कहा—“अभी रीवां की महारानी दर्शन कर रही हैं। उनके बाद आप जा सकेंगे।”

उस क्षण मुंशीराम के मन में यह प्रश्न उभरा, “विश्वनाथ तो विश्व के स्वामी हैं। उनकी दृष्टि में सभी समान हैं फिर उन्हीं के दरवार में रीवां की महारानी के साथ यह पक्षपात क्यों?” यही प्रश्न आगे चलकर उत्कट तलाश में परिणित हो गया। तलाश की इस प्रक्रिया में वह ईसाई धर्म की ओर आकर्षित हुए। और वह आकर्षण इस सीमा तक बढ़ा कि वह बपतिस्मा लेने को तैयार हो गये। इसी इरादे से एक दिन वह ईसाई धर्माध्यक्ष के पास पहुंचे। लेकिन वहां जाकर उन्होंने देखा कि वे तो एक नन के प्रणयपाश में आवद्ध हैं। मन पर फिर आघात हुआ। सोचने लगे कि अगर धर्माध्यक्ष भी वही कुछ करते हैं जो करने पर हम विलासी कहलाते हैं तो, हममें और उनमें अन्तर क्या है?

प्रश्नाकुलता की इसी स्थिति में उन्होंने मन्दिरों में व्यभिचार के अड्डों को पनपते देखा। उन्होंने देखा कि जब कोई नारी मां नहीं बन सकती तो, कोई दूसरी नारी उसे संतान प्राप्त कराने के लिए इन तथाकथित धर्माध्यक्षों के पास ले जाती है और वे धर्मपिशाच समाज में धर्मप्राण महापुरुषों के रूप में पूजे जाते हैं।

एक बार तीर्थाटन करते हुए वे मथुरा पहुंचे। मंदिर में दर्शन के समय उन्होंने एक युवती की चीख सुनी। दृष्टि उठाकर उस ओर देखा तो पाया कि एक गुसाई महाशय एक युवती का हाथ पकड़कर भीतर खींचने की चेष्टा कर रहे हैं। वे तुरन्त वहां पहुंचे। उन्हें देख कर गुसाई महाशय बोले, “यह बालिका भीड़ में घबरा गयी है। मैं इसे शान्त करने की चेष्टा कर रहा हूं।”

युवती ने तुरन्त प्रतिवाद किया, “यह झूठ बोलता है। मैं साधु समझ कर इसके पैर छू रही थी कि इसने मुझे दबोच लिया।”

मुंशीराम जी ने उस युवती को उसके परिवार के पास पहुंचा दिया। पर उनका मन और भी उद्वेलित हो उठा। कैसा है यह धर्म? कैसे हैं यह धर्म के संरक्षक, संवाहक?...लेकिन अभी ऐसी घटनाओं का अन्त नहीं आया था। उस दिन उनकी पीड़ा का पार नहीं रहा जिस दिन उन्होंने देखा कि एक राजा साहब देवी के प्रतीक के रूप में एक निर्वसना युवती की उपासना कर रहे हैं।

ऐसी घटनाओं ने मुंशीराम को नास्तिक बना दिया। लेकिन अचानक कुरेदना की इस कदम में उसकी आस्था घटी जिसने उसे जीवन की राह दिखाने का

दिया। उनके पिता श्री नानक चंद जी शहर कोतवाल के पद पर काम कर रहे थे। जिस समय वह बरेली में कार्यरत थे उसी समय स्वामी दयानन्द सरस्वती अपनी प्रचार यात्रा के दौरान वहां आए। वह धार्मिक भ्रष्टाचार पर तीव्र आक्रमण करते थे। उनके आक्रमण से तिलमिलाकर कुछ धर्मान्ध व्यक्ति उनकी सभाओं में विघ्न डालते थे। बरेली में ऐसा न हो, यह देखने का भार श्री नानकचंद को सौंपा गया। नानकचंद ने स्वामी दयानन्द का व्याख्यान सुना। वह सनातन धर्म के अनुयायी थे, फिर भी वह उनके व्याख्यान से बहुत प्रभावित हुए। घर लौटकर उन्होंने अपने नास्तिक बेटे से कहा, “एक दण्डी स्वामी इस शहर में पधारे हैं। वे योगी भी हैं और प्रखर विद्वान भी। उनका भाषण सुनकर तुम्हारे संशय जरूर दूर हो जाएंगे। कल मेरे साथ चलना।”

और अगले दिन मुंशीराम पिता के साथ स्वामी दयानन्द का व्याख्यान सुनने के लिए गये। वहां क्या हुआ उसका वर्णन स्वयं उन्होंने इस प्रकार किया है, “दूसरे दिन वेगम वाग की कोठी में पिता जी के साथ पहुंचा। वहां व्याख्यान हो रहा था। उस दिव्य आदित्य मूर्ति को देखकर कुछ श्रद्धा उत्पन्न हुई। और जब पादरी स्कॉट और दो-तीन अन्य योरोपियनों को उत्सुकता से बैठे देखा तो श्रद्धा और भी बढ़ी। अभी दस मिनट भी वक्तूता नहीं सुनी थी कि मन में विचार किया यह विचित्र व्यक्ति है कि केवल संस्कृतज्ञ होते हुए ऐसी युक्ति-युक्त बातें करता है। व्याख्यान परमात्मा के निज नाम ‘ओऽम’ पर था। वह पहले दिन का आत्मिक आह्लाद मैं कभी भूल नहीं सकता। एक नास्तिक को आह्लाद में निमग्न कर देना ऋषि आत्मा का ही काम था।”

मुंशीराम के जीवन में यह एक ऐसा मोड़ था, जिसके उस ओर प्रकाश-ही-प्रकाश बिखरा पड़ा था। इसलिए शीघ्र ही यह स्थिति आ गयी कि प्रतिदिन स्वामी जी के साथ होने वाले प्रश्नोत्तर सुनने के लिए वह उनके प्रत्येक व्याख्यान में उपस्थित रहने लगे। वे अपनी शंकाओं का निवारण भी करवाते थे। उन्हीं के शब्दों में, “यद्यपि आचार्य दयानन्द के उपदेशों ने मुझे मोहित कर लिया था तथापि मैं मन में सोचा करता था कि यदि ईश्वर और वेद के ढकोसले को पंडित दयानन्द स्वामी तिलांजलि दे दें तो फिर कोई भी विद्वान उनकी अपूर्व युक्ति और तर्कना शक्ति का सामना करने वाला न रहे। मुझे अपने नास्तिकपन का उन दिनों अभिमान था, इतना कि एक दिन ईश्वर के आस्तित्व पर आक्षेप कर डाले पर पांच मिनट के प्रश्नोत्तर में ऐसा घिर गया कि जिह्वा पर मुहर लग गयी। मैंने कहा, “महाराज ! आपकी तर्कना शक्ति बड़ी तीक्ष्ण है। आपने मुझे चुप तो कर दिया परन्तु यह विश्वास नहीं दिलाया कि परमेश्वर की कोई हस्ति (अस्तित्व) है।”

दूसरी बार फिर तैयारी करके गया परन्तु परिणाम पूर्ववत् ही निकला। तीसरी बार फिर पूरी तैयारी करके गया परन्तु मेरे तर्क को फिर पछाड़ मिली।

मैंने फिर अन्तिम उत्तर यही दिया, “महाराज, आपकी तर्कना शक्ति बड़ी प्रबल है। आपने मुझे चुप तो करा दिया परन्तु यह विश्वास नहीं दिलाया कि परमेश्वर की कोई हस्ति है।”

महाराज पहले हंसे, फिर गम्भीर स्वर में कहा, “देखो। तुमने प्रश्न किये, मैंने उत्तर दिये—यह मुक्ति की बात थी। मैंने कब प्रतिज्ञा की थी कि मैं तुम्हारा विश्वास परमेश्वर पर करा दूँगा। तुम्हारा परमेश्वर पर विश्वास उस समय होगा जब वह प्रभु स्वयं तुम्हें विश्वासी बना देंगे।”

कैसा सहज, विनम्र और तर्क संगत उत्तर दिया स्वामीजी ने। उसे प्रभु की ज्योति कहें या अन्तर की ज्योति कहें या स्वतः स्फूर्त ज्योति कहें; जब वह भासमान होती है तभी मनुष्य का अन्तर और बाह्य आलोकित होता है।

मुंशी राम बहुत भटके लेकिन अब जैसे उन्हें दिशा मिल गयी थी। आवारा को मसीहा बना देने वाली दिशा। उसकी दिशा के कारण विलासी और नास्तिक मुंशीराम ने महात्मा मुंशीराम और फिर हुतात्मा श्रद्धानन्द का विरुद्ध पाकर वह ख्याति अर्जित की जिसका वर्णन पीछे हो चुका है। वर्षों बाद सन् १९२५ में महर्षि दयानन्द के प्रति आभार प्रकट करते हुए स्वामी श्रद्धानन्द ने लिखा—“ऋषिवर, तुम्हें भौतिक शरीर त्यागे ४१ वर्ष हो चुके, परन्तु तुम्हारी दिव्य मूर्ति मेरे हृदय पटल पर ज्यों की त्यों अंकित है। मेरे निर्बल हृदय के अतिरिक्त कौन मरणधर्मा मनुष्य जान सकता है कि कितनी बार गिरते-गिरते तुम्हारे स्मरण मात्र ने मेरी आत्मिक रक्षा की है। तुमने कितनी गिरी हुई आत्माओं की काया पलट दी है इसकी गणना कौन मनुष्य कर सकता है...परन्तु अपने विषय मैं कह सकता हूँ कि तुम्हारे सहवास ने मुझे कैसी गिरी हुई अवस्था से उठाकर सच्चा जीवन लाभ करने के योग्य बनाया।”

स्वामी दयानन्द के ग्रन्थों के स्वाध्याय से कैसे धीरे-धीरे उनका मन सत्य के आलोक से आलोकित होता गया यह लम्बी कहानी है पर इस कुरेदना के बीज तो बचपन से स्वयं उनके अन्तर में मौजूद थे। एक दिन वह स्कूल नहीं गये। पिता जी ने पूछा, तो कह दिया, “आज छुट्टी है।” लेकिन बाद में उन्हें पता लगा कि बालक मुंशीराम ने झूठ बोला है। स्कूल में छुट्टी नहीं थी। पिताजी की आत्मिक ग्लानि का पार नहीं था। पुत्र ने पिताजी के वेदना को रूप लेते देखा तो अन्तर में संघर्ष मच उठा। अन्त में उन्होंने अपना अपराध स्वीकार कर लिया और फिर कभी झूठ न बोलने की प्रतिज्ञा की।

इसी तरह जब शराब पीने के कारण बहुत कर्ज चढ़ गया तो उनकी पति-परायणा पत्नी ने अपने हाथ के कड़े बेच देने में संकोच नहीं किया। कोई उपदेश नहीं, प्रतारणा का एक शब्द नहीं, मुंशीराम का हृदय आत्म-ग्लानि से टीस उठा। उन्होंने अपने पतन की कहानी सुनाते हुए अपना हृदय खोलकर रख दिया

और क्षमा कर देने की प्रार्थना की लेकिन उस देवी ने यही कहा, “आप मेरे स्वामी हैं, यह सब सुनाकर मुझे पाप क्यों चढ़ाते हैं। मुझे तो यह शिक्षा मिली है कि मैं नित्य आपकी सेवा करूँ।”

उस रात दोनों पति-पत्नी बिना भोजन किए ही सो गये। उस दिन उनके मन पर जो प्रभाव पड़ा, उसकी गूँज उनके इन शब्दों में सुनी जा सकती है, “पौराणिक युग में जिस प्रकार आर्य महिलाओं ने सतीत्व का पालन किया, उसी के प्रताप से भारत भूमि रसातल को नहीं पहुँची और उसमें अब तक पुनरुत्थान की शक्ति विद्यमान है। यही मेरा निज का अनुभव है।”

बड़े प्रयत्नों के बाद उनके पिता उनकी नियुक्ति नायब तहसीलदार के पद पर कराने में सफल हो गये थे। इसी अवधि में एक बार सेना ने बरेली के पास पड़ाव डाला। उसे रसद पहुँचाने का दायित्व नायब तहसीलदार के नाते उन पर था। उन्होंने प्रबन्ध किया भी पर, गोरे तो सामान लेकर उसका मूल्य चुकाने में विश्वास नहीं करते थे। कुछ सैनिक एक अण्डेवाले के अण्डे बिना मूल्य दिये ही उठा ले गये। मुंशीराम जी को पता लगा तो वे कर्नल के पास पहुँचे पर वह तो उल्टा उन्हीं को गुस्ताख कहने लगा। मुंशीराम तो फौलाद के बने हुए थे, अन्याय कैसे सह सकते थे—वोले, “मैं यह अपमान नहीं सह सकता। मैं अपने आदमियों को ले जा रहा हूँ। आप जो कर सकते हों कर लें।”

और वे देखते-देखते घोड़े पर सवार होकर आँखों से ओझल हो गये। शिकायत कमिश्नर के पास पहुँची। उसने आदेश दिया कि मुंशीराम कर्नल से माफी मांगे। क्षण भर के लिए अन्तर में संघर्ष का तुमुलनाद उठा पर दूसरे ही क्षण वे कमरे से बाहर आये और नौकरी से इस्तीफा दे दिया।

परेशान पिता ने उन्हें वकील बनाने का निश्चय किया। वकालत की परीक्षा तो वे अनेक कारणों से न पास कर सके पर मुक्तार अवश्य बन गये। तब पता लगा कि शीघ्र ही यह नियम बनने वाला है कि जो व्यक्ति बी० ए० पास न होगा वह वकालत की परीक्षा में न बैठ सकेगा। इसलिए उन्होंने फिर वकालत की परीक्षा में बैठने का निश्चय किया। परिश्रम भी खूब किया पर एक परचे में दो अंक से रह गए। किसी ने सुझाया कि रजिस्ट्रार को रिश्वत दो, पास हो जाओगे पर वे नहीं माने। इस तरह वे वकील नहीं ही बन सके, मुक्तार ही रहे।

यह उनके भौतिक जीवन में होने वाले संघर्ष की एक झलक मात्र है लेकिन वे तो किसी और जीवन के लिए बने थे। स्वामी दयानन्द के प्रभाव में आकर वे आर्य समाज की ओर झुक रहे थे। निरन्तर स्वाध्याय करते थे। सत्यार्थप्रकाश भी पढ़ा। जब उनके मन में उठने वाली सभी शंकाओं का समाधान हो गया तभी वे आर्य समाज के सदस्य बने। अपने पहले ही भाषण में उन्होंने कहा था, “हमारे विचार और कर्म में एकरूपता होनी चाहिए। जो वैदिक धर्म के सिद्धान्तों के

अनुरूप अपना जीवन नहीं जी सकता उसे उपदेश देने का अधिकार नहीं है। भाड़े के टट्टुओं से धर्म का प्रचार नहीं हो सकता। इस पवित्र काम के लिए निस्वार्थ और त्यागी पुरुषों की आवश्यकता है।”

उनका यह भाषण सुनकर आर्य समाज के वयोवृद्ध नेता लाला साईदास ने कहा था, “आर्य समाज में एक नयी स्पिरिट का प्रवेश हुआ है, देखें वह इसे तारती है या डुबोती है।” इतिहास साक्षी है स्वामी श्रद्धानन्द जीवन भर अपने उस पहले व्याख्यान को ही सार्यक करते रहे। इतिहास इस बात का भी साक्षी है कि स्वामी दयानन्द द्वारा स्थापित आर्य समाज को सही रूप देने में, पुष्पित और पल्लवित करने में जिन व्यक्तियों का योगदान कसौटी पर कसा जाकर कंचन प्रमाणित हुआ है, उनमें स्वामी श्रद्धानन्द का नाम इतिहास के पन्नों पर स्वर्णाक्षरों में लिखा हुआ है।

एक बार आर्य समाज का सदस्य बनकर फिर उन्होंने पीछे मुड़कर नहीं देखा। आगे और आगे ही बढ़ते गये। कैसा संघर्ष करना पड़ा उन्हें, आज तो इस की कल्पना करना भी कठिन है। घर और बाहर विरोध ही विरोध था। घर का विरोध तो बहुत शीघ्र समाप्त हो गया। प्रारम्भ में उन्हें कई बार अपने पिताजी से टकराना पड़ा। उस दिन वे लाहौर जा रहे थे। पिता जी ने आदेश दिया, “जाओ बेटा ! ठाकुर जी को माथा टेक जाओ।”

बेटे के सामने प्रश्न था कि क्या वह पिताजी की आज्ञा मानकर अपने सिद्धान्त की उपेक्षा करे या सिद्धान्त पर दृढ़ रह पिताजी की अवहेलना करे। कई क्षण एक तुमुलनाद घुमड़ता रहा अन्तर में। अन्त में वे बोले, “पिताजी, सांसारिक व्यवहार में आप जो कहेंगे मैं वही करूंगा, पर जिन सिद्धान्तों को मैंने स्वीकार किया है उनके विरुद्ध कुछ न कर सकूंगा।”

पिताजी का क्रोध भड़क उठा, बोले, “क्या तुम ठाकुर जी को निरा पत्थर समझते हो।”

शान्त मन मुंशीराम ने उत्तर दिया, “पिताजी ! परम प्रभु के वाद आप ही मेरे लिए पूज्य हैं पर क्या आप चाहेंगे कि आपकी सन्तान मक्कार हो।

पिता हतप्रभ से बोले, “नहीं तो। मैं ऐसा कभी नहीं चाहूंगा।”

उन्होंने कहा, “जिन मूर्तियों में मेरा विश्वास नहीं उनके आगे सिर झुकाना क्या मक्कारी नहीं होगी।”

उस स्पष्ट उत्तर ने पिताजी को और भी परेशान कर दिया। कह उठे, “आज मुझे विश्वास हो गया कि मरने के बाद कोई मुझे पानी भी न देगा।”

फिर एक क्षण रुके, बोले, “अच्छा ! अब जाओ, देर हो जाएगी।”

लेकिन ये ही पिताजी एक दिन इतने बदल गये कि जब वे जालन्धर आये तो मुंशीराम साप्ताहिक सत्संग में गये हुए थे। उनके आने का समाचार पाकर

तुरन्त सेवा में उपस्थित हुए। पिताजी ने पूछा—“क्या सत्संग समाप्त हो गया।” पुत्र ने उत्तर दिया, “केवल भजन आरती रह गयी थी। आपके आने का समाचार पाकर जल्दी चला आया।”

पिताजी ने बड़े प्रेम से कहा, “क्या जल्दी थी। समाज का अधिवेशन समाप्त करके ही आना चाहिए था।”

मुंशीराम चकित थे। हुआ यह कि आते समय वे सत्यार्थप्रकाश और पंच महायज्ञ विधि पिताजी के कमरे में छोड़ आए थे। पिताजी ने उन्हें देखा। अपने एक मित्र से उन्हें पढ़वा कर सुना। इतने प्रभावित हुए कि बोले, “हम तो अविद्या में पड़े रहे। निरर्थक क्रिया-कर्म करते रहे। हमारा मोक्ष कैसे होगा। अब हम वैदिक साधना करेंगे।”

पुत्र ने पिता की जीवनधारा बदल दी थी। यहां तक कि मृत्यु शैया पर भी उन्होंने ईशोपनिषद् और वैदिक हवन कराने की इच्छा प्रकट की थी। घर में ही नहीं, समाज में भी वे सारे विरोधों के बावजूद सफलता की सीढ़ियां चढ़ते जा रहे थे। लाला साईदास की अन्तर्वेधी दृष्टि ने जिस ऊर्जा को पहचान लिया था वह निर्जीव ऊर्जा नहीं थी। वह सजीव शक्ति थी जिसे दिशा की खोज नहीं करनी पड़ती बल्कि दिशा स्वयं चलकर उसके पास आती है। इसलिए मुंशीराम जहां भी गये नवजागरण का सन्देश लेकर गये। शब्दों के द्वारा नहीं बल्कि अर्थ अर्थात् कर्म के द्वारा। उस क्षण से वे सदा दूसरों के लिए ही गए।

उन दिनों शास्त्रार्थ खूब होते थे और वे संस्कृत में ही होते थे। और प्रायः वे व्यक्ति ही शास्त्रार्थ करते थे जो जन्म से ब्राह्मण होते थे। लेकिन मुंशीराम ने निश्चय किया कि वे स्वयं शास्त्रार्थ करेंगे। उन्होंने वेदों का अध्ययन किया। धर्म शास्त्र पढ़े और अपनी विवेक बुद्धि के द्वारा सत्य अर्थ को जान लिया।

अब उन्होंने आर्य समाज के सिद्धान्तों के प्रचार के साथ-साथ पण्डितों को चुनौती देनी आरम्भ कर दी। समाज में खलबली मच गयी पर वे विचलित नहीं हुए। वे अपनी दृष्टि खुली रखते थे। जो शुभ और शुद्ध होता उसे ग्रहण करने में उन्होंने कभी आनाकाना नहीं की। यही कारण था कि आर्य समाज के तत्कालीन नेता पं० गुरुदत्त और आर्य मुसाफिर पं० लेखराम से उन्हें बहुत सहयोग मिला। पं० गुरुदत्त तो उनके पथप्रदर्शक ही थे पर शीघ्र ही ये दोनों महानुभाव यह संसार छोड़कर चले गये। मुंशीराम जी की वेदना का पार न था पर वे नाना रूपों में नाना प्रकार से आर्य समाज का प्रचार करते रहे। सड़क पर खड़े होकर भाषण दिया, घर-घर जाकर चंदा मांगा। वे रूढ़ियों पर प्रबल प्रहार करते थे। जन्म के स्थान पर उन्होंने गुणकर्म के अनुसार वर्ण-व्यवस्था की स्थापना पर जोर दिया। वे अपने विश्वासों को जीने में विश्वास करते थे। उन्होंने अपने विचारों को जन-जन तक पहुंचाने के लिए ‘सद्धर्म प्रचारक’ नामक पत्रिता भी उर्दू में निकालनी शुरू की।

इन सब बातों के कारण उन्हें लोग उग्र क्रान्तिकारी कहने लगे थे। जालन्धर के आर्य समाजी इसी कारण 'एक स्ट्रीम रैडिकल पार्टी' के नाम से प्रसिद्ध हो गये थे। लेकिन जब किसी समाज की शक्ति बढ़ जाती है, पग-पग पर सफलता उसके चरण चूमने लगती है, वह नये प्रकाश, नई ज्योति से भासमान होने लगता है तब उसे बाहरी खतरों से उतना डर नहीं रहता जितना अन्दर के खतरों से। किसी भी समाज की प्रगति और अगति का कारण उसके अपने भीतर छिपा रहता है। आर्य समाज के साथ भी यही हुआ।

उसकी चर्चा करने से पूर्व उनके पारिवारिक जीवन की एक झलक देख लेना भी आवश्यक है। वे तीव्र गति से आगे बढ़ रहे थे। काम करने की अद्भुत क्षमता थी उनमें। उन्हें जालन्धर आर्य समाज का प्रधान चुना गया और शीघ्र ही वह महात्मा मुंशीराम के नाम से विख्यात हो गये। इसी समय उनकी पत्नी का देहावसान हो गया। उनका अन्तिम संदेश था, "मेरे अपराध क्षमा करना। आपको तो मुझसे अधिक पढ़ी-लिखी और रूपवती सेविका मिल जाएगी पर इन वच्चों को न भूलना।"

मुंशीराम अपनी पत्नी को पहचानते थे, जानते थे कि दुर्दिनों में उसी ने उनकी रक्षा की थी। उन्होंने निश्चय किया वे दूसरा विवाह नहीं करेंगे। पिता के साथ वे वच्चों की मां भी बनेंगे। बाद में उनके बड़े भाई ने उन्हें वच्चों की चिन्ता से मुक्त कर दिया और इस प्रकार सब बन्धनों से मुक्त होकर उन्होंने अपने जीवन को पूर्ण रूप से समाज की सेवा में अर्पित कर दिया।

२

भारतीय नव जागरण में स्वामी श्रद्धानन्दजी की क्या भूमिका रही है इसका आकलन करने से पूर्व उन्नीसवीं सदी के भारत पर एक दृष्टि डाल लेना उचित होगा। यह सदी भारतीय मेघा की सबसे बड़ी पहचान है। वहां मात्र प्रश्न ही नहीं गूंजते बल्कि, उन प्रश्नों को उठाने वाले कर्म की तूफानी लहरों से जूझते भी दिखाई देते हैं। तमस के विरुद्ध बलाग लड़ाई लड़ने और आत्म-बलिदान करने की अद्भुत क्षमता दिखाई देती है उनमें।

भले ही अपने स्वरूप में सामन्ती रहा हो पर सन् १८५७ का स्वाधीनता-संग्राम न केवल नये भारत के निर्माण का प्रतीक है बल्कि उस जागृति का भी प्रतीक है, जो अपने ही भीतर पनप रही अन्धकार की शक्तियों से जूझने की राह दिखाती है। अंग्रेजों ने अमानुषिक अत्याचार द्वारा हमारे स्वाधीनता संग्राम को दबा जरूर दिया परन्तु उसी के कारण जहां एक ओर 'एक देश' की प्राचीन कल्पना फिर से रूप लेती दिखाई देती है, वहीं दूसरी ओर यह अनुभूति भी तीव्र होती है कि राजनैतिक स्वतन्त्रता से पहले हम अपने ही अन्तर में पनप रहे नाना

रूप अन्ध-विश्वासों, सामाजिक कुरीतियों और अविद्या के अन्धकार से मुक्ति पानी होगी। एक के बाद एक उभरने वाले सुधार आन्दोलन इसी अनुभूति का परिणाम हैं। ये आन्दोलन हमें अपने उज्ज्वल भूत और विकृत होते वर्तमान की समझ ही नहीं देते, बल्कि एक गरिमामय भविष्य बनाने की प्रेरणा भी देते हैं।

सन् १८५७ की क्रांति से पूर्व सन् १८२८ ई० में नव जागरण के अग्रदूत राजा राममोहन राय ने जिस ब्राह्मसमाज की स्थापना की थी वह पश्चिमी सभ्यता से प्रभावित था। उसने सती-प्रथा, बाल-विवाह, जन्ममूलक वर्ण-व्यवस्था आदि सामाजिक कुरीतियों का घोर विरोध किया और स्त्री शिक्षा, विधवा विवाह आदि का प्रबल समर्थन किया। बम्बई में इसी समाज के आधार पर प्रार्थना समाज की नींव पड़ी। उसके नेताओं में प्रमुख थे डा० भंडारकर और न्यायमूर्ति रानाडे। इसके अतिरिक्त शेष उत्तर भारत में जिस आन्दोलन का व्यापक प्रभाव हुआ वह आर्य समाज के झण्डे के नीचे आरम्भ हुआ था। इस समाज की स्थापना स्वामी दयानन्द सरस्वती ने सन् १८७५ में की थी। स्वामीजी जन्म से गुजराती थे और राजा राममोहनराय के विपरीत प्राच्य सभ्यता के उपासक थे। वे संस्कृत के पण्डित थे। उन्होंने वेदों के आधार पर बाल विवाह, अनमेल विवाह, अशिक्षा, छूतछात, मूर्ति-पूजा और जन्ममूलक वर्ण-व्यवस्था का प्रबल विरोध किया और विधवा विवाह, अन्तर्जातीय विवाह, स्त्री शिक्षा, कर्मानुसार वर्ण-व्यवस्था तथा विदेश-यात्रा का पूर्ण समर्थन किया।

मुंशीराम ने खूब देख-परख कर अपने को इसी उभरती हुई शक्ति के प्रति समर्पित कर दिया था और यह समर्पण सम्पूर्ण था। लेकिन जैसा हमने कहा है कि निरन्तर विकसित होती हुई शक्तियों को बाहरी संकटों से उतना डर नहीं होता जितना आन्तरिक संकटों से। यह संकट पहले मतभेद के रूप में उभरता है। मतभेद जब तक रचनात्मक रूप में रहते हैं वे किसी भी समाज की शक्ति ही बनते हैं लेकिन जाने-अनजाने ऐसा भी होने लगता है कि उन मतभेदों के साथ व्यक्ति का अहम् जुड़ जाता है, तब वे ही मतभेद जो प्रगति का मार्ग प्रशस्त कर सकते थे, घुन बनकर समाज को अन्दर ही अन्दर कमजोर करने लगते हैं।

दुर्भाग्य से आर्य समाज के साथ भी कमोवेश ऐशा ही हुआ। वह शीघ्र ही दो दलों में बंट गया। इतिहास साक्षी है कि दोनों दलों के अग्रणी नेताओं ने उन मतभेदों को रचनात्मक रूप देने की पूरी कोशिश की इसलिए जहां एक ओर पंजाब केसरी लाला लाजपतराय के संरक्षण में दयानन्द एंग्लो वैदिक शिक्षा संस्थाओं का उदय हुआ वहीं दूसरी ओर स्वामी श्रद्धानन्द के प्रयत्नों से गुरुकुल शिक्षा प्रणाली ने जन्म लिया। पं० इन्द्र विद्यावाचस्पति ने, जिन्होंने अपने पिता महात्मा मुंशीराम को बहुत पास से देखा था और मतभेद होने पर अपनी स्वतन्त्र सत्ता बनाये रखने का साहस भी दिखाया था, उन्होंने अपनी पुस्तक 'मेरे पिता' में

लिखा है “पिताजी के जीवन में क्रान्ति के बीज बहुत काल से बोये जा चुके थे। बरेली में ऋषि दयानन्द के दर्शनों से क्रान्ति का जो बीज बोया गया वह धीरे-धीरे अंकुरित होकर पल्लवित हो रहा था। उस घटना चक्र ने, जिसकी अन्तिम सामाजिक घटना, आर्य पथिक पं० लेखराम जी की मृत्यु के बाद आर्य समाज का महात्मा और कालिज पार्टियों में घर संघर्ष का फिर भी फूट पड़ना था और अन्तिम पारिवारिक घटना डा० गुरुदत्तजी का विवाह था, पिताजी के जीवन को एकदम नई धारा में डाल दिया। क्रान्ति का प्रवाह तीव्र हो गया जिसकी टक्कर से घर-गिरस्थी की रिवाजी दीवारें धड़ाधड़ गिरने लगीं।^१

उन्होंने परिजनों के तीव्र विरोध करने पर भी डा० गुरुदत्त का विवाह एक विधवा श्रीमती सुमित्रा देवी से कराया था। इन्द्रजी के शब्दों में कहूंगा “उस समय विधवा विवाह हिन्दुओं के लिए ही नहीं, आर्य समाजियों के लिए भी एक नयी और साहसिक चीज थी। नयी और साहसिक चीज को कर डालना पिताजी का स्वभाव था।”^२

इसी स्वभाव ने ही तो एक समय ऐश्वर्य और विलास में डूबे रहने वाले लाला मुंशीराम को अमर शहीद स्वामी श्रद्धानन्द बना दिया। लाला मुंशीराम से अमर शहीद स्वामी श्रद्धानन्द बनने तक की यह रोमांच यात्रा मनुष्य के अजेय विश्वासों और संकल्पों की विजय यात्रा है। उन्होंने एक दिन प्रतिज्ञा की कि जब तक गुरुकुल बनाने के लिए तीस हजार रुपये इकट्ठा न कर लूंगा तब तक घर में पैर न रखूंगा। यद्यपि उस समय इतनी बड़ी राशि इकट्ठा करना, वह भी गुरुकुल के लिए, असम्भव जैसा था पर मुंशीरामजी ने ६ महीने के भीतर ही उस राशि की सीमा को पार कर लिया।

कालेज दल के मित्र देश में प्रचलित शिक्षा-पद्धति के सहारे आगे बढ़ना चाहते थे परन्तु महात्मा दल के मित्रों का विश्वास था कि हमें प्राचीन वैदिक शिक्षा प्रणाली को अपनाकर स्वामी दयानन्द के सपनों के भारत का निर्माण कर सकते हैं। यह संघर्ष मांस खाने या न खाने के समर्थन या विरोध के संघर्ष से कहीं तीव्र और उग्र था और दूरगामी भी। इसके पक्ष-विपक्ष में प्रचार करने से कितना लाभ, कितनी हानि हुई यह खतिया कर देखने की बात अभी रहने दें। अभी तो हम यही जानना चाहते हैं कि भारत के नवजागरण में स्वामी श्रद्धानन्द द्वारा स्थापित गुरुकुल कांगड़ी का कितना योगदान रहा है या रहा भी है।

मुंशी अमनसिंह द्वारा दी गयी लगभग ७०० बीघे जमीन पर सन् १९०२ में कैसे गुरुकुल की नींव पड़ी यह सभी जानते हैं पर प्रो० इन्द्र विद्यावाचस्पति के

१. अमर शहीद स्वामी श्रद्धानन्द : मेरे पिता—इन्द्र विद्यावाचस्पति, पृ० ४८-४९

२. वही पृष्ठ, ४७

शब्दों में हम उसके प्रारम्भिक रूप की एक झलक अवश्य देना चाहते हैं। इन्द्रजी गुरुकुल में प्रवेश पाने वाले पहले दल में थे। वे लोग प्रशिक्षण के रूप में अभी गुजरावाला में पढ़ रहे थे। वहाँ से वे हरिद्वार आये। भयंकर जंगल पार करके उस भूमि तक पहुँचने में उन्हें साढ़े नौ घण्टे लगे। वैसे यह फासला कुल चार मील का था। कल्पना की जा सकती है कि कैसा मार्ग रहा होगा वह। जब वे वहाँ पहुँचे तो रात घिर आई थी। आकाश में चांदनी के धवल प्रकाश में जो सुन्दर दृश्य उन्होंने देखा था उसे वे कभी न भूल सके, “घने जंगल के बीचों-बीच कोई दो बीघे का मैदान साफ किया गया था। उसमें एक ओर फूस के छप्परोँ की एक लम्बी पंक्ति थी जो छात्रों के रहने का आश्रय स्थान था। उसके साथ समकोण बनाती हुई दूसरी छप्परोँ की पंक्ति में भोजन भंडार था। उनके बीच के कोने में एक स्विस् काटेज लगा हुआ था जो प्रधानजी का दफ्तर भी था और रहने का स्थान भी। उन छप्परोँ से कुछ दूर दो छप्पर डालकर गोशाला बनाई गयी थी। यह फूस के छप्परोँ का डेरा उस खिली चांदनी में अद्भुत शोभा दिखा रहा था। हमें उस समय ऐसा अनुभव हुआ कि हम सचमुच स्वर्ग के किसी टुकड़े पर पहुँच गये हैं। यह गुरुकुल का प्रारम्भिक रूप था।”^१

उस प्रारम्भिक जंगली रूप से वर्तमान शहरी रूप तक पहुँचने में कितना समय लगा, कैसे-कैसे कड़वे और मीठे अनुभव हुए, गुरुजनों और ब्रह्मचारियों की कैसी-कैसी क्रान्तियाँ हुईं, यह अद्भुत कहानी कितनी रोमांचक हो सकती है इसकी कल्पना करना भी आज असम्भव जैसा है। सत्य सदा कल्पना से अधिक चकित कर देने वाला होता है। क्या कोई इस बात पर विश्वास करेगा कि जब गुरुकुल में कड़वे तेल के स्थान पर मिट्टी के तेल के प्रयोग का प्रस्ताव आया तो उसके विरुद्ध तीव्र आन्दोलन शुरू हो गया था पर प्रो० इन्द्र विद्यावाचस्पति के शब्दों में, “ब्रह्म-चारियों में प्रधान जी के प्रति बहुत श्रद्धा का भाव बना हुआ था। इसका परिणाम यह हुआ कि जब प्रधान जी की आज्ञा से मिस्तरी मगधर सिंह कमरों में बड़ी लाल-टेन लटकाने के लिए आया तो कोई अप्रिय घटना नहीं हुई और चुपके से मिट्टी के तेल के रूप में पाश्चात्य सभ्यता ने पूर्वी सभ्यता के दुर्ग में प्रवेश किया।”

इस तरह के परिवर्तन हर क्षेत्र में आते चले गये। कुछ परिवर्तन ऐसे हुए जिनको लेकर प्रारम्भिक साधकों में मतभेद हो गये और कुछ सहयोगियों ने गुरुकुल छोड़ दिया, कुछ ने उस पार जाकर महाविद्यालय ज्वालापुर की स्थापना की। इन सबका विश्लेषण करना यहाँ अप्रासंगिक है पर सब मतभेदों के बावजूद गुरुकुल के प्रति आकर्षण बढ़ रहा था और वार्षिकोत्सव पर उपस्थिति सन् १९०२ में तीन हजार से बढ़ कर सन् १९१२ में पिछतर हजार तक पहुँच गयी थी। नाना क्षेत्रों के

अनेकों प्रसिद्ध व्यक्ति भी समय-समय पर गुरुकुल आते थे। कैंसी कठिन परिस्थितियों में काम करता पड़ता था उन दिनों, इसका एक उदाहरण देना पर्याप्त होगा। उन दिनों गंगा पर बने नावों के कच्चे पुलों को पार करके ही गुरुकुल पहुंचा जा सकता था। किसी-किसी वर्ष तो ठीक उत्सव के दिनों में अधिक वर्षा हो जाने के कारण गंगा में जल बढ़ जाता था और पुल टूट जाता था। तब प्रधान जी कंधे पर पीला दुपट्टा डालकर और लम्बी लाठी हाथ में लेकर ब्रह्मचारियों में आते थे और कहते थे कि चलो पुल बनायेंगे।

और सचमुच ब्रह्मचारी, उनके अधिष्ठाता और कारीगर सब मिलकर कुछ ही घण्टों में पुल तैयार कर देते थे। एक बार पुल बनने में कुछ देर हो गयी और दर्शक कनखल की ओर किनारे पर जमा होने लगे, तब इन्द्रजी के शब्दों में, “प्रधान जी ने उसी समय खाने का बहुत-सा सामान गुरुकुल से मंगवाकर तनेड़ों पर परली पार भेज दिया और कहला भेजा कि आप लोग वापिस न जाएं। हम सब पुल पूरा होने पर ही खाना खायेंगे। इस पर जो यात्री तैरना जानते थे गंगा में कूद पड़े और पुल बनाने में हमारी सहायता करने लगे। जहां तक याद है दिन के दो बजे तक पुल पूरा हो गया और गुरुकुलवासी यात्रियों को साथ लेकर गुरुकुल की ओर रवाना हो गये।”

यह एक झलक मात्र है उन प्रारम्भिक कठिनाइयों की जिनसे मुंशीराम को जूझना पड़ा था। जो नये पथ का निर्माण करते हैं उन्हें तपना ही पड़ता है। बिना तपे तो प्रभु भी वरदान नहीं देते पर यही तपना शरीर सुखाना नहीं है, पराई पीर में तपना है। शब्द को पकड़ना नहीं है, अर्थ को जीना है। लाला मुंशीराम से स्वामी श्रद्धानन्द तक पहुंचने की यह यात्रा पराई पीड़ में तपने और शब्द के अर्थ को रूपायित करने की ही यात्रा है।

स्वामी दयानन्द ने पहचान लिया था कि अन्दर के तसम और बाहर के झंझावातों से जूझने के लिये सबसे पहले शिक्षा की परम आवश्यकता है, इसीलिए प्रचार के साथ-साथ वैदिक पाठशालाएं स्थापित करने का भी प्रयत्न किया था उन्होंने और उनके बाद उनके द्वार स्थापित आर्यसमाज ने इस क्षेत्र में जो काम किया उसे सभी ने एक स्वर में अभूतपूर्व कहा है। एक समय तो सारे भारत में दयानन्द एंग्लो वैदिक स्कूल-कालेजों, गुरुकुलों और कन्या महाविद्यालयों का जाल बिछ गया था।

उनकी सफलता-असफलता और औचित्य-अनीचित्य पर विचार करना यहां अप्रासंगिक है। इतना जान लेना पर्याप्त है कि अतीत संस्कृति का अपूर्व भंडार है। उसको नकार कर न तो वर्तमान का निर्माण किया जा सकता है, न भविष्य की

कल्पना की जा सकती है। महात्मा मुंशीराम पुरातन शिक्षा पद्धति को अपना कर पुरातन का मात्र अमूर्त गुणगान ही नहीं करना चाहते थे बल्कि जो नवीन है उसमें समोकर उसे ठोस व्यवहारिक भूमि पर परख-देखना चाहते थे। वह कितने सफल हुए, हुए भी या नहीं, यह प्रश्न भी यहां कोई अर्थ नहीं रखता क्योंकि विजय मंजिल तक पहुंच जाने का नाम नहीं है। उसकी कसौटी तो उद्देश्य को पाने के लिये किये जाने वाला अनवरत संघर्ष है। महान वही व्यक्ति होता है जो विचार को कर्म में रूपांतरित करने का लक्ष्य सामने रखता है। महात्मा गांधी से किसी ने पूछा था — “आप महान क्यों हैं ?”

महात्मा जी ने उत्तर दिया था कि वे महान नहीं हैं लेकिन अगर महान होने का अर्थ है कि उनके विचार उनके कर्म से दस कदम पीछे रहते हैं तो सम्भवतः वह महान हो सकते हैं।”

महात्मा मुंशीराम को इसी अर्थ में महान कहा जा सकता है। भारत के सामाजिक और राजनीतिक नव-जागरण में अकेले गुरुकुल कांगड़ी का जो योगदान रहा है उसका तटस्थ मूल्यांकन यदि किया जाए तो उसके परिणाम पर कोई भी देश गर्व कर सकता है।

हिन्दी ही देश की राष्ट्रभाषा है, इस तथ्य को पिछली शताब्दी में ही देश के सभी मनीषियों ने स्वीकार कर लिया था और इनमें प्रायः वे महानुभाव थे जिनकी मातृभाषा हिन्दी नहीं थी। स्वामी दयानन्द की मातृभाषा हिन्दी नहीं थी। स्वामी श्रद्धानन्द की मातृभाषा भी हिन्दी नहीं थी पर उनके नेतृत्व में और उनकी प्रेरणा से हिन्दी के प्रचार-प्रसार के लिये आर्य समाज और गुरुकुल कांगड़ी ने जो कुछ किया, उसकी प्रशंसा सभी ने की है।

स्वामी जी के कारण ही सबसे पहले आर्य समाज ने यह आवाज उठाई कि शिक्षा का माध्यम देशी भाषाएं होनी चाहिए। महात्मा मुंशीराम ने इस सम्बन्ध में गुरुकुल कांगड़ी के माध्यम से अनेक क्रियात्मक परीक्षण किए। यहां के स्नातकों ने वैज्ञानिक विषयों पर मौलिक ग्रन्थ लिखे। पारिभाषिक शब्दों का निर्माण किया। यहीं पर सबसे पहले इस शताब्दी के प्रथम चरण में, हिन्दी के माध्यम द्वारा वैज्ञानिक विषयों की उच्च शिक्षा देना आरम्भ किया गया और हिन्दी में विज्ञान की पाठ्य पुस्तकों के अभाव को भी दूर करने का सफल प्रयत्न किया। महात्मा मुंशीराम के अनुरोध पर जिन दो व्यक्तियों ने आज से ८० वर्ष पहले (१९०८) रसायन शास्त्र, वनस्पतिशास्त्र, विद्युत शास्त्र, भौतिक और रसायन विज्ञान जैसे विषयों की पाठ्य-पुस्तकें तैयार की वे थे सर्वश्री महेशचरण सिन्हा (१८८२-१९४२) और गोवर्धन-शास्त्री (१८९१-१९२७)। बाद में तो गुरुकुल के स्नातकों सहित अनेक विद्वान इस क्षेत्र में आये। विज्ञान के अनेक क्षेत्रों में अनुवादों द्वारा हिन्दी साहित्य को समृद्ध करने वाले विद्वानों में भी गुरुकुल के स्नातक प्रमुख रहे हैं। पर आरम्भ में

यह काम करना निश्चय ही बहुत कठिन रहा होगा। आज भी अच्छी पाठ्य पुस्तकों का अभाव खटकता रहता है तो आज से अस्सी वर्ष पहले स्थिति क्या रही होगी पर महात्मा मुंशीराम तो सच्चे अर्थों में कर्मयोगी थे। उन्होंने यह प्रमाणित करके कि हिन्दी के माध्यम से किसी भी विषय में उच्च से उच्च शिक्षा दी जा सकती है, बड़े-बड़े विश्वविद्यालयों के अधिकारियों को चकित कर दिया। तत्कालीन कलकत्ता विश्वविद्यालय आयोग के प्रधान श्री सेडलर ने स्पष्ट शब्दों में कहा था, “मातृ-भाषा द्वारा उच्च शिक्षा देने के परीक्षण में गुरुकुल को अभूतपूर्व सफलता प्राप्त हुई है।”

यही सब देख कर महात्मा गांधी ने महामना पं० मदन मोहन मालवीय से कहा था, “गंगा के किनारे हरिद्वार के जंगलों में गुरुकुल खोलकर जब स्वामी श्रद्धानन्द हिन्दी के माध्यम से उच्च शिक्षा दे सकते हैं तो वाराणसी की गंगा के किनारे बैठकर आप इन बच्चों को टेम्स का पानी क्यों पिला रहे हैं।”

हिन्दी साहित्य की विविध विधाओं को विशेषकर जीवनी, आत्मकथा, यात्रा वृत्तान्त आदि को तो गुरुकुल के स्नातकों ने पुष्ट किया ही है, उन्होंने शिकार और वन भ्रमण की रोमांचक यात्रा कथाएं भी प्रस्तुत की हैं। लेकिन राष्ट्र में नवचेतना जगाने की दृष्टि से दो क्षेत्रों में उनका योगदान बहुत ही सराहनीय रहा है, एक अनुसन्धान के क्षेत्र में, दूसरा पत्रकारिता के क्षेत्र में। किसी भी जाति या धर्म की स्वास्थ्य रक्षा के लिए निरन्तर खोज करते रहना बहुत आवश्यक है। प्रारम्भिक वर्षों में गुरुकुल कांगड़ी में भारत के इतिहास को तथा वैदिक देवताओं और ऋषियों को लेकर काफी काम हुआ। अनेक उच्च कोटि के ग्रन्थ प्रकाशित हुए। यह आवश्यक नहीं कि प्रत्येक व्यक्ति उनके निष्कर्षों तथा स्थापनाओं से सहमत हो पर ऐसा कार्य चिन्तन को धार ही नहीं देता बल्कि कट्टर सिद्धान्तवादी होने से भी बचाता है। इसीलिए कभी-कभी तीव्र मतभेद भी उभरे पर जैसा हम कह आये हैं मतभेद के पीछे दुर्भावना न हो तो वह स्वास्थ्यकर ही होता है।

अनुसन्धान के क्षेत्र की तरह पत्रकारिता के क्षेत्र में भी गुरुकुल के स्नातकों ने अभूतपूर्व जागरूकता और विवेक बुद्धि का परिचय दिया है। प्रारम्भ में प्रचार कार्य के लिए, स्वयं स्वामी दयानन्द की प्रेरणा से साप्ताहिक और मासिक पत्रिकाओं का जो सिलसिला आरम्भ हुआ था वह अन्ततः व्यापक राष्ट्रीय चेतना में कैसे परिवर्तित हो गया, उसका विस्तृत विवेचन बन्धुवर क्षेमचन्द्र सुमन ने दो वर्ष पूर्व यहीं पर ‘महर्षि दयानन्द निर्वाण शताब्दी व्याख्यान-माला’ के अन्तर्गत दिये व्याख्यान में किया था। वह जिस निष्कर्ष पर पहुँचे उससे हम भी सहमत हैं कि “आर्य समाज के माध्यम से हिन्दी साहित्य और पत्रकारिता की जो सेवा हुई

वह इतनी महत्वपूर्ण है कि उसके उल्लेख के बिना साहित्य और पत्रकारिता का इतिहास ही अधूरा रह जाता है।”

हम इस बात से भी सहमत हैं कि यदि महात्मा मुंशीराम गुरुकुल कांगड़ी की स्थापना न करते तो हिन्दी पत्रकारिता का जो रूप हम आज देख रहे हैं वैसा सम्भवतः नहीं ही होता। गुरुकुल के स्नातकों ने इस क्षेत्र में जो योगदान दिया वह हर दृष्टि से प्रशंसनीय और अभिनन्दनीय है। महात्मा मुंशीराम ने ‘सद्धर्म प्रचारक’ नाम का एक साप्ताहिक पत्र उर्दू में निकाला था। इसका पहला अंक १६ फरवरी १८८४ को प्रकाशित हुआ था। कई वर्ष यह उर्दू में ही निकलता रहा पर एक दिन अचानक किसी ने उन पर व्यंग्य करते हुए कहा, “स्वामी दयानन्द के शिष्य बनते हो और पत्रिका उर्दू में निकालते हो।”

इस व्यंग्य से महात्मा मुंशीराम के अन्तर में जैसे तुमुलनाद मच उठा। और अन्ततः उन्होंने १ मार्च, १९०७ में सद्धर्म प्रचारक की भाषा हिन्दी कर दी। मित्रों ने बहुत समझाया कि पत्रिका पहले ही घाटे में चल रही है अब हिन्दी में उसे कौन पढ़ेगा। पंजाब में तो हिन्दी केवल स्त्रियाँ ही पढ़ती हैं। उनका उत्तर था, “देश की राष्ट्रभाषा हिन्दी है। स्वामी दयानन्द जब गुजराती होते हुए हिन्दी में ग्रन्थ लिख सकते हैं तो हम उनके अनुयायी थोड़ा-सा त्याग भी नहीं कर सकते। हमारे लिए तो हिन्दी का पढ़ना-पढ़ाना अनिवार्य है। और सचमुच इस निश्चय का सुखद परिणाम हुआ। केवल उस पत्र को पढ़ने के लिए ही बहुत-से लोगों ने हिन्दी सीखी।

महात्मा मुंशीराम स्वयं ही आदर्श स्थापित करके नहीं रह गये बल्कि उन्होंने अपने दोनों पुत्रों सर्वश्री हरिश्चन्द्र वेदालंकार और इन्द्र विद्यावाचस्पति को भी इसी मार्ग का पथिक बना दिया। उन्होंने सन् १९१८ में ‘श्रद्धा’ नाम से एक और साप्ताहिक निकाला था। कुछ दिन तक सद्धर्म प्रचारक दैनिक के रूप में भी निकलता रहा। उन्हीं की प्रेरणा से प्रो० इन्द्र ने न केवल ‘सद्धर्म प्रचारक’ का सम्पादन किया, न केवल दिल्ली से दैनिक ‘विजय’ प्रकाशित किया बल्कि कालांतर में अर्जुन, वीर अर्जुन, नवराष्ट्र और जनसत्ता जैसे सशक्त साप्ताहिक और दैनिक पत्र निकाल कर हिन्दी पत्रकारिता की जो नींव डाली थी सुमन जी के शब्दों में, “उसी पर आज हिन्दी पत्रकारिता का यह भव्य भवन खड़ा है।” इन्द्र जी के सम्पादकीय अपने संतुलित और सारगर्भित चिन्तन के लिये बहुत लोकप्रिय हुए।

राष्ट्रभाषा हिन्दी के प्रति उनकी ऐसी अनन्य सक्रिय भक्ति देख कर ही हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने सन् १९१३ में उन्हें भागलपुर, बिहार में होने वाले अपने चौथे वार्षिक अधिवेशन का अध्यक्ष मनोनीत किया था। अपने अध्यक्षीय भाषण में उन्होंने घोषणा की थी—“पर भाषा में विचार उठने से जहां सभ्यता विदेशी होगी, वहां राष्ट्र-जीवन का विकास नहीं हो पाएगा।”

साधन होती है। बिना एक राष्ट्रभाषा के प्रचार के राष्ट्र संगठित होना वैसा ही दुष्कर है जैसे बिना जल के मीन का जीवन।”

उन्होंने उर्दू भाषी होते हुए भी अपनी आत्मकथा ‘कल्याणमार्ग’ का पथिक’ हिन्दी में लिखी।” इसमें उन्होंने अपनी जीवन-गाथा का और उसमें आने वाले उतार-चढ़ावों का, बड़ी वेवाकी से चित्रण किया है। भारत में उस समय वैसा साहस केवल महात्मा गांधी ही दिखा सके थे।

अठारह वर्ष गुरुकुल के आचार्य पद पर सुशोभित रह कर जहां एक ओर उन्होंने ब्रह्मचर्य प्रधान राष्ट्रीय शिक्षा प्रणाली का पुनरुद्धार किया, छात्रों में राष्ट्रीयता और निर्भीकता के भाव जागृत किये और राष्ट्रभाषा को समृद्ध किया, वहाँ अनेक विदेशियों को भी आकर्षित किया। कुछ व्यक्ति यहां हिन्दी पढ़ने के लिये आते थे। कुछ यहां हो रहे प्रयोगों से आकर्षित होकर आते थे और यहां के वातावरण पर मुग्ध हो जाते थे। प्रो० इन्द्र ने अपने पिता की जीवनी में ऐसे अनेक प्रसंगों का रोचक वर्णन किया है। उनके शब्दों में, “१९०६-१० के लगभग दिल्ली के सेण्ट स्टीफन्स कालेज से गुरुकुल के सम्बन्ध ऐसे हो गये थे जैसे दो वहनों के होते हैं। दीनबन्धु सी० एफ० एंड्रयूज और प्रिंसिपल रुद्र का पिताजी से स्नेह हो गया था। इसे अकारण स्नेह का नाम ही देना चाहिए क्योंकि न तो उसमें किसी का कुछ स्वार्थ था और न ही धर्म अथवा संस्कृति की समानता थी। केवल प्रवृत्तियों की समानता के कारण ही यह स्नेह पैदा हुआ था।”^१

लेकिन एक और वर्ग था जो वहां यह जानने के लिए आता था कि यहां विदेशी शासन को उखाड़ने का कौन सा पडयंत्र चल रहा है। गुप्तचर विभाग अजीब-अजीब खबरें सरकार को देता था। जैसे वहां ऐसे चित्र लटके हुए हैं जिनमें दिखाया गया है कि गोरों के आने से पहले भारत क्या था और उनके आने के बाद क्या हो गया। उसने ला० लाजपत राय, सर० अजीत सिंह और भाई परमानन्द को आर्य समाज के साथ जोड़ कर उसे वागी संस्था मान लिया। इस सम्बन्ध में १९१४ ई० में मजदूर दल के एक नेता श्री रेमजे मैकडानल्ड ने, जो बाद में इंग्लैण्ड के प्रधान मंत्री भी बने, लिखा था, “इस उन्नतिशील धार्मिक संस्था आर्य समाज के सम्बन्ध में जितने भी सन्देह किए जाते हैं वे सब इस गुरुकुल पर लाद दिए गये हैं। पुलिस के अफसरों ने इसके सम्बन्ध में गुप्त रिपोर्ट दी है और अधिकांश एंग्लो इंडियन लोगों ने इसकी निन्दा की है। अध्यापकों में एक भी अंग्रेज नहीं है। अंग्रेजी साहित्य की पढ़ाई और उच्च शिक्षा के लिए पंजाब यूनिवर्सिटी द्वारा नियुक्त पुस्तकें यहां काम में नहीं लाई जातीं। विद्यार्थियों को विद्यालय से

१. ज्ञानमण्डल, काशी, १९२४

२. वही, पृष्ठ ६०।

उसकी अपनी उपाधियां दी जाती हैं। सचमुच यह सरकार की अवज्ञा है। घबराए हुए सरकारी अधिकारी के मुँह से उसके लिए पहली बात यही निकलेगी कि यह स्पष्ट राजद्रोह है। परन्तु गुरुकुल के विषय में यह अन्तिम राय नहीं हो सकती। मैकाले के बाद भारत के शिक्षा के क्षेत्र में यह पहला प्रशस्त प्रयत्न किया गया है। मैकाले के प्रयत्नों के परिणामों से प्रायः सभी भारतवासी असंतुष्ट हैं। किन्तु जहाँ तक मुझे मालूम है गुरुकुल के संस्थापकों के सिवा किसी और ने इस असन्तोष को कार्यरूप में परिणत करते हुए शिक्षा के क्षेत्र में नया परीक्षण नहीं किया।”

दि न्यू स्टेट्समैन ने तो यहाँ तक लिख दिया था, “आध्यात्मिकता एवं नैतिकता से प्रायः शून्य, प्रतिभाहीन ब्रिटिश अधिकारी एकाएक घबरा जाते हैं। वे नहीं समझ सकते कि ये लोग क्या कर रहे हैं। इसलिए वे इसमें राजद्रोह का सन्देह करने के आदी हो गए हैं।”

सन्देह की यह नींव बहुत पहले पड़ चुकी थी। जालन्धर में मुंशीराम जी सवेरे धूमने जाया करते थे। वहाँ के डिप्टी कमिश्नर कर्नल हाकॉट भी जाते थे। दोनों में खूब बातें होती थी। लेकिन जब कर्नल को पता लगा कि मुंशीराम आर्यसमाजी हैं तो उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ। बोले—“आप और आर्यसमाजी। आप तो बड़े धार्मिक आदमी हैं। आप आर्यसमाजी नहीं हो सकते।” उन्होंने उत्तर दिया कि वे आर्यसमाजी ही नहीं प्रत्युत स्थानीय आर्य समाज के प्रधान भी हैं। तब साहब बोले, “परन्तु लाहौर आर्य समाज तो एक पोलिटिकल संस्था है। जालन्धर आर्य समाज चाहे न हो।” तब मुंशीराम ने कर्नल साहब को आर्य समाज के मन्तव्य तथा उद्देश्य समझाये और बतलाया कि वे लोग आर्य तथा श्रेष्ठ पुरुष बनना चाहते हैं। इसका परिणाम यह हो सकता है कि श्रेष्ठों पर उनसे गिरे हुए पुरुष राज न कर सके। इस पर साहब बड़े उदार भाव से बोले, “फिर हमारे यहाँ ठहरने का उचित हेतु न रहेगा।”

इस घटना से पता लगता है कि शुरू से ही गोरे हाकिम आर्य समाज को सन्देह की दृष्टि से देखते थे। तब गुरुकुल पर उनकी कोप दृष्टि पड़ना स्वाभाविक था। एक समय तो स्थिति बहुत भयंकर हो गयी थी। शंकाओं के घेरे में घिरे गुरुकुल को गोरी सरकार ने किसी गहरे षडयन्त्र का केन्द्र मान लिया था और उस पर आक्रमण करने की तैयारी कर ही रही थी कि महात्मा मुंशीराम ने स्वयं शेर की गुफा में पहुँच कर उनसे बात करने का निश्चय किया। प्रो० इन्द्र ने लिखा है,^१ “उस दिन की बातचीत में जो बीजपात हुआ वह कुछ वर्षों में भारत के वायसराय लार्ड चेम्सफोर्ड द्वारा गुरुकुल कांगड़ी की तीर्थ यात्रा के रूप में फलीभूत हुआ।

१. कल्याण मार्ग का पथिक, पृष्ठ १०० (सावंदेशिक का विशेषांक १४-१२-६५)।

२. अमर शहीद स्वामी श्रद्धानन्द, मेरे पिता, पृष्ठ १२३।

वायसराय के गुरुकुल आगमन को शायद कुछ लोग सरकारी अफसर द्वारा एक शिक्षण संस्था के निरीक्षण का रूप दे, परन्तु जिन लोगों ने उस घटना को आदि से अन्त तक देखा था, उन्हें यह विश्वास हो गया है कि वायसराय का गुरुकुल आगमन केवल सरकारी दौरे का हिस्सा नहीं था प्रत्युत उसमें कुछ प्रयोजन और भावुकता का अंश भी था।”

भावुकता का एक कारण महात्मा मुंशीराम का भव्य व्यक्तित्व भी था जो अनायास ही उनके बड़े से बड़े विरोधी को भी उनके प्रति स्नेह और आदर से भर देता था। पं० जवाहरलाल नेहरू के मूल्यांकन में उसकी गन्ध है। उस समय के संयुक्त प्रान्त के गवर्नर लार्ड मेस्टन, मजदूर नेता रेम्जे मैकाडोर्नलड, दीनदन्धु सी० एफ० एंड्रयूज तथा प्रसिद्ध अमेरिकन पत्रकार श्री फैल्प्स आदि कुछ प्रसिद्ध व्यक्ति उनके व्यक्तित्व के आकर्षण से खिंचकर ही उनके हो रहे थे।

वायसराय के गुरुकुल आगमन से जहां एक ओर कोहरे के बादल छट गये दूसरी ओर उग्रवादियों ने इस यात्रा को सन्देह की दृष्टि से देखा। आगे हम देखेंगे कि कैसे स्वामी श्रद्धानन्द भारत के स्वाधीनता संग्राम में कूद पड़े थे। वह खुशामदी कैसे हो सकते थे। वह तो बस यही चाहते थे कि गुरुकुल एक स्वतन्त्र शिक्षा संस्थान बना रहे। उसे न दायें जाना है, न बायें। उसे तो भारतवासियों के अन्तर में हीन भावना का जो अन्धकार पूंजीभूत हो उठा है उसे दूर करना है। बिना स्वयं शक्तिशाली हुए शत्रु से कैसे लोहा लिया जा सकता है। सच्चा जननायक हर कदम बहुत सोच-समझ कर उठाता है, भावुकता के वशीभूत नहीं होता। इसी कारण जब सरकार ने आर्थिक सहायता देने का प्रस्ताव रखा तो उसी दृढ़ता से उन्होंने उसे एकदम अस्वीकार कर दिया। दूसरी बार सोचा तक नहीं। उनके भव्य और आकर्षक व्यक्तित्व के पीछे दृढ़ विश्वास की एक ऐसी दीवार थी जिसे भेद पाना किसी के लिए सम्भव नहीं था।

उन्होंने शिक्षा को लोकप्रिय बनाने का क्षेत्र केवल पुरुषों तक ही सीमित नहीं रखा था। आर्य कन्या पाठशालाओं और गुरुकुलों को भी उन्होंने समान महत्व दिया। इन आर्य कन्या पाठशालाओं के द्वारा ही तो हिन्दी ने घरों में प्रवेश पाया था। कन्या महाविद्यालय, जालन्धर की नींव कैसे पड़ी इसकी चर्चा करते हुए अपनी आत्मकथा में उन्होंने लिखा है, “कृष्ण स्वस्थ होने पर इसी मास में (अक्तूबर, १८८८) एक नये काम की बुनियाद डाली गयी जिसने मेरे चिरकाल के विचार को क्रिया में परिणित कर दिया।”^१

इसी वर्ष उनका सम्बन्ध भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस से हुआ। और यहां से शुरू होकर यह सम्बन्ध कैसे सन् १९१६ में असहयोग आन्दोलन में कूद पड़ने तक पहुंच

१. कल्याण मार्ग का पथिक, पृष्ठ १०६

गया; इसकी कहानी भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के जन्म और विकास की कहानी है। महात्मा गांधी ने उनके सम्बन्ध सन् १९१७ में विधिवत सन्यास ग्रहण करने और स्वामी श्रद्धानन्द नाम धारण करने से पूर्व ही घनिष्ठ हो चुके थे। निमित्त बने थे दीनबन्धु सी० एफ० एण्ड्रयूज। गुरुकुल की चर्चा करते हुए उन्होंने दक्षिण अफ्रीका में गांधीजी को लिखा था, “जिस भारत को मैं जानता था, जिस भारत को मैं प्रेम करता था, जो भारत मेरे सपनों में था, वह मुझे यहां देखने को मिला।”

तब न तो मुंशीराम जी महात्मा बने थे और न गांधी जी। बाद में दोनों ने एक दूसरे को महात्मा कहकर पुकारा और फिर वह शब्द सदा के लिए उनसे जुड़ गया। २१ अक्टूबर, १९१४ के पत्र में गांधी जी ने उन्हें ‘प्रिय महात्मा जी’ कह कर सम्बोधित करते हुए लिखा, “आप मुझे ‘महात्मा जी’ लिखने के लिए क्षमा करेंगे। मैं और एण्ड्रयूज साहब आपकी चर्चा करते हुए आपके लिए इसी शब्द का प्रयोग करते हैं उन्होंने मुझे आपकी संस्था गुरुकुल देखने के लिए अधीर बना दिया है...।”

६ माह बाद गांधी जी गुरुकुल आये तब ८ अप्रैल, १९१५ को उन्हें जो मान-पत्र दिया गया उसमें उन्हें ‘महात्मा’ नाम से सम्बोधित किया गया था। स्वामी श्रद्धानन्द और आर्य समाज स्वाधीनता संग्राम से इतने सहज भाव से जुड़ गये, यह कोई आश्चर्यजनक बात नहीं है। स्वामी दयानन्द ने अपने सत्यार्थप्रकाश में बहुत पहले लिख दिया था—“कोई कितना ही करे परन्तु जो स्वदेशी राज्य होता है वह सर्वोपरि उत्तम होता है।” इन शब्दों के पीछे जो भावना है उसी की नींव पर तो भारत का स्वाधीनता संग्राम पुष्पित पल्लवित होकर परवान चढ़ा। उसके असंख्य बलिदानी, हिंसक और अहिंसक दोनों प्रकार के सैनिकों में आर्य समाज की भट्टी से तपकर निकले सैनिकों की संख्या किसी भी दृष्टि से नगण्य नहीं है।

स्वामी जी का कांग्रेस से सम्बन्ध बहुत पहले हो चुका था। वे गांधी जी के दक्षिण अफ्रीका में किये गये आन्दोलन से भी परिचित थे। श्री गोखले की अपील पर गुरुकुल के विद्यार्थियों ने घी-दूध छोड़ कर और मजदूरी करके उन दिनों पन्द्रह सौ रुपए गांधी जी के लिये भेजे थे। पर वे क्रियात्मक राजनीति में गांधी जी के सत्याग्रह शुरू करने पर ही कूदे।

रोलेट एक्ट के विरोध में ३० मार्च, १९१६ को गांधी जी ने पूर्ण हड़ताल करने का आह्वान किया। दिल्ली में उस दिन सचमुच पूर्ण हड़ताल रही लेकिन रेलवे स्टेशन के एक ठेकेदार ने दुकान बन्द करने से इंकार कर दिया। इस पर भीड़ और पुलिस में कुछ कहा सुनी हो गयी। उसके बाद पुलिस ने दो स्वयं सेवकों को गिरफ्तार कर लिया। भीड़ में उत्तेजना फैल गयी। गोली चलने और लोगों के मरने तथा घायल होने के समाचार आने लगे। स्वामी जी फिर भी सबको शान्त रहने को कहते रहे। बीस-पच्चीस हजार की भीड़ बड़े संयत भाव से सभा करने

के बाद लौट चली। वे चांदनी चौक में घण्टाघर के पास पहुंचे ही थे कि अचानक वहीं गोली चल गई। लोग विक्षुब्ध हो उठे। उसके बाद वहां जो कुछ हुआ उसका वर्णन प्रो० इन्द्र के शब्दों में जो स्वयं वहां मौजूद थे, करना उचित होगा, “लोग नारे लगाने में व्यस्त थे और तेजी से आगे बढ़ते जा रहे थे। सिपाही भीड़ को अपनी ओर आता देख कर घबरा गये और तीन-चार कदम पीछे हटकर अपनी बन्दूकों को ऐसे ढंग से सम्भालने लगे जैसे गोली छोड़ने के समय सम्भालते हैं...” इतने में एक बन्दूक चल गयी। सरकार का बयान था कि गोली भूल से चल गयी पर लोग विक्षुब्ध हो गये। स्वामी जी ने लोगों को वहीं ठहरने का आदेश दिया और स्वयं आगे बढ़ कर सिपाहियों के ठीक सामने जाकर खड़े हो गये; पूछा, “तुमने गोली क्यों चलाई?”

इस प्रश्न पर कोई उत्तर न देकर कई सिपाहियों ने अपनी बन्दूकों की संगीनें स्वामी जी की ओर बढ़ाते हुए कहा, “हट जाओ, नहीं तो हम छेद देंगे।”

स्वामी जी एक कदम और बढ़ गये। अब संगीन की नोक स्वामी जी की छाती को छू रही थी। स्वामी जी ने बड़े ऊंचे स्वर में कहा, “मार दो।”

यह दृश्य शायद मिनट भर रहा होगा। इतने में एक अंग्रेज अफसर घोड़ा भगाते हुए वहां आया। उसके आने पर सिपाहियों ने बन्दूकें नीची कर लीं। स्वामी जी ने अफसर से पूछा, “गोली क्यों चलाई गयी?”

अफसर ने बहुत अस्पष्ट शब्दों में उत्तर दिया, “गोली भूल से चल गयी थी।”

यह कह कर उसने सिपाहियों को पीछे हट कर भीड़ के लिए रास्ता छोड़ने का हुक्म दे दिया। सिपाही पीछे हट गए और जनता ने अपना कोलाहल पूर्ण प्रयाश जारी रखा...

इस घटना के दूरगामी परिणाम हुए। उस दिन हिन्दु और मुसलमान दोनों का रक्त बहा था। ‘हम’ शब्द में ‘ह’ से हिन्दू और ‘म’ से मुसलमान कहने का रिवाज उसी समय से चला है। शहीदों के अन्तिम संस्कार के समय जो दृश्य दिल्ली में देखने को आए वे अद्भुत थे। चार अप्रैल को दोपहर की नमाज के बाद जामा मस्जिद में मुसलमानों का एक विशाल जलसा हो रहा था तभी मौलाना अब्दुल्ला चूड़ीवाले ने आवाज दी, “स्वामी श्रद्धानन्द जी की तकरीर भी होनी चाहिए।”

तुरन्त कुछ नौजवान नया बाजार जाकर स्वामी जी को लिवा लाये और स्वामी श्रद्धानन्द ने ‘अल्ला हो अकबर’ के नारों के बीच वेद मन्त्रों का पाठ करते हुए भाषण दिया। हम नहीं जानते उससे पहले कभी ऐसा हुआ हो। यही नहीं ६ अप्रैल को फतेहपुरी मस्जिद में भी उनका भाषण हुआ।

और जलियांवाला बाग के हत्याकाण्ड के बाद जब कांग्रेस का अधिवेशन अमृतसर में हुआ, स्वागताध्यक्ष के रूप में उसका सारा भार उन्होंने ही उठाया। यहां भी वह नव जागरण का संदेश लेकर आये। पहली बार उन्होंने ही कांग्रेस के मंच से ठेठ मुहावरेदार हिन्दी में भाषण दिया। पहली बार कांग्रेस का ध्यान अस्पृश्यता निवारण और दलितोद्धार की ओर खींचा। एक ओर गांधी जी की अहिंसा का पूर्ण समर्थन करते हुए कहा, “ओडायर और डायर जानसन और ओवरायन ये सब हमारे ही तो भाई हैं। एक ही पिता की तो सन्तान हैं। उनके अन्दर क्रोध और असाधुता के जो भाव हैं वे ही हमारे शत्रु हैं।” दूसरी ओर उन्होंने यह चेतावनी भी दी, “यदि जाति को स्वतन्त्र देखना चाहते हो तो स्वयं सदाचार की मूर्ति बनकर अपनी सन्तान के सदाचार की बुनियाद रखो। जब सदाचारी ब्रह्मचारी शिक्षक हों और शिक्षा पद्धति राष्ट्रीय हो तभी जाति की आवश्यकताओं को पूरा करने वाले नौजवान मिलेंगे। नहीं तो इसी तरह आपकी सन्तान विदेशी विचारों और विदेशी सभ्यता की गुलाम बनी रहेगी...”

उनके कार्य और प्रभाव की चर्चा करते हुए श्री नटराजन ने अपने पत्र ‘इंडियन सोशल रिफार्मर’ में लिखा था, “भारत की पवित्रता के स्रोत एवं काषाय वस्त्रों के वेश में वह विशाल तेजस्वी तथा प्रभावशाली मूर्ति जिसके चेहरे पर शक्ति और तेज चमक रहा था, साधारण से साधारण दर्शक की भी स्वयं सेवा करते हुए और महान संगठन के छोटे-छोटे कार्य का भी स्वयं निरीक्षण करते हुए यहां-वहां सभी जगह व्याप्त दीख पड़ती थी।”

वे सिक्खों के गुरु के बाग के सत्याग्रह में भाग लेकर जेल भी गये लेकिन जब चौरा-चोरी काण्ड के बाद गांधी जी ने अपने असहयोग आन्दोलन स्थगित कर दिया तब उनका मन टूट गया लेकिन मतभेद का कारण केवल इतना ही नहीं था। गांधी जी ने आर्य समाज और स्वामी दयानन्द के सम्बन्ध में कुछ ऐसी बातें कहीं थी जिनके कारण आर्य समाजी उत्तेजित हो उठे थे। स्वामी जी के मन को भी ठेस लगी और गांधी जी से उनका मतभेद हो गया। गांधी जी ने इस मतभेद की चर्चा करते हुए लिखा था, “उस मतभेद से मुझ पर उनका बाल-मुलभ स्वभाव प्रकट हुआ। परिणाम का विचार किए बिना उन्हें जैसा मालूम था उन्होंने सच्ची बात कह दी। वे अति साहसी थे। समय बीतने के साथ-साथ हम दोनों के स्वभाव का जो अन्तर था उसे मैं देखता गया किन्तु उससे तो उनकी आत्मा की शुद्धता ही सिद्ध हुई।”

कांग्रेस की साम्प्रदायिक नीति से वह असहमत थे परन्तु किसी साम्प्रदायिक संस्था की ओर से चुनाव लड़कर कांग्रेस का विरोध करने की नीति का भी समर्थन उन्होंने नहीं किया। एक समय आया जब गांधी जी ने अस्पृश्यता मिटाने के लिए प्राणों की बाजी लगा दी परन्तु जब स्वामीजी का पत्र उनके पास पहुंचा तो उन्होंने

प्रस्ताव पेश किया था तब कांग्रेस के नेताओं ने उनका उपहास उड़ाया था। दुखी होकर उन्होंने अलग से दलितोद्धार सभा की स्थापना की और अपना काम शुरू कर दिया। गांधी जी के ही शब्दों में “वह इसमें आधा-साधा मुधार नहीं चाहते थे। अगर उनकी चलती तो बात की बात में हिन्दू धर्म से अस्पृश्यता को निकाल बाहर करते। हरेक मन्दिर को, हरेक कुएं को बराबरी के हक के साथ अछूतों के लिए खोल देते और इसका फल भुगत लेते।”

फल भुगत लेने की तैयारी के कारण ही उनका मुसलमान मित्रों से मतभेद शुरू हो गया। शुद्ध आन्दोलन के समय तो विवाद और वितण्डा का कोई अन्त ही नहीं रहा। सत्याग्रह आन्दोलन के एकाएक स्थगित हो जाने के कारण देश का जन-मानस क्षुब्ध हो उठा और फिर निराशा से भर गया। और उसका अन्त हुआ हिन्दू-मुस्लिम झगड़ों में। इस दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति के लिए केवल किसी एक घटना या किसी एक व्यक्ति को दोषी ठहराना इतिहास के साथ अन्याय करना होगा। मुस्लिम और ईसाई मित विश्वास करते थे कि प्रत्येक व्यक्ति को उनके धर्म में दीक्षित किया जा सकता है। वे ऐसा करते भी थे। क्यों कर पाते थे इसके बारे में बहुत से लोग बहुत-सी बातें कहते हैं उसका विश्लेषण करना न तो यहां सम्भव है, न वांछित ही। इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि एक वर्ग की दृष्टि में उसी की प्रतिक्रिया स्वरूप स्वामी दयानन्द ने घोषणा की कि प्रत्येक व्यक्ति आर्य हो सकता है। स्वामी श्रद्धानन्द इसी मान्यता को कार्यन्वित कर रहे थे। जब मौलाना मुहम्मद अली ने कांग्रेस के मंच से अछूतों को बांटने का प्रस्ताव रखा तो इस मान्यता के प्रति उनका विश्वास और भी दृढ़ हो गया। और अन्ततः इसी मान्यता की वेदी पर उन्हें अपने प्राणों का विसर्जन करना पड़ा। गांधी जी ने इस विसर्जन को ‘महिमामय मृत्यु’ कहकर सम्मानित किया। और एक समय के उनके प्रबल प्रतिद्वन्द्वी लाला लाजपतराय कह उठे थे, “आज स्वामी श्रद्धानन्द ने मुझे पराजित कर दिया।”

इस बलिदान के बहुत से लोगों ने बहुत से अर्थ लगाये हैं पर प्रश्न यहां यह उठता है कि क्या स्वामी श्रद्धानन्द जी मुस्लिम विरोधी थे। क्या यह मात्र एक संयोग ही है कि जिस मजहब के पैरोकार ने उनके प्राण लिए उसी मजहब के एक दूसरे पैरोकार ने उन्हें मृत्यु के मुंह से निकाला था और गोली लगने पर सबसे पहले उसी को प्राण रक्षा के लिए बुलाया गया था। और क्या यह भी संयोग ही है कि जब उनका बलिदान हुआ तब भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का अधिवेशन गोहाटी में हो रहा था। उसकी सफलता की कामना करते हुए उन्होंने अपनी रोग-शैया से जो सन्देश भेजा था वह इस प्रकार था, “भारत की स्वतन्त्रता हिन्दू-मुस्लिम एकता, भाई चारे पर निर्भर करती है।” उनकी शहादत का समाचार पाकर स्वयं महात्मा गांधी जी भी प्रसन्न हुए।

“अखिल भारतीय कांग्रेस का यह अधिवेशन स्वामी श्रद्धानन्दजी की कायरता और कष्टपूर्ण हत्या पर क्षोभ प्रकट करता है। भारत माता के देशभक्त और वीर सपुत की दुःखद मृत्यु से ऐसी क्षति हुई है जिसकी पूर्ति होना सम्भव नहीं है।”

“उनका जीवन और जीवन की विणिष्टताएं अपने देश और धर्म की सेवा पर अर्पित रही। उन्होंने निर्भीकता और दृढ़ता के साथ सदैव असहायों, पतितों और दीन दखियों को सहारा दिया।” (१९२६)

वह प्रतिवर्ष ईद के अवसर पर जो सन्देश देते थे वे इस सम्बन्ध में उनके सोच और चिन्तन के प्रतीक हैं। सन् १९२५ में उन्होंने अपने सन्देश में हिन्दुओं से कहा था, “परमात्मा तो सारे संसार का पिता है, यदि तुम्हें इस बात पर विश्वास है तो प्राणी मात्र को मित्र की दृष्टि से देखना चाहिए और मनुष्य मात्र को भाई समझना चाहिए। क्या इसका प्रत्यक्ष प्रमाण आज से तीन दिन तक अमल से दोगे। आज मुसलमान स्त्री, पुरुष, बाल, वृद्ध युवा, नये कपड़े पहनकर अद्वितीय ब्रह्म के आगे अपनी श्रद्धा की भेंट धरने जा रहे हैं। क्या वह श्रद्धा उनके अन्दर घर कर गई है। यदि ऐसा होगा तो वे अपने त्यागहारों पर हिन्दुओं का दिल दुखाने की कोई बात नहीं करेंगे।”

हिन्दू-मुस्लिम एकता के पुराने दिनों की याद करते हुए उन्होंने एक बार कहा था, “परस्पर मनोमालिन्य की इतनी दुर्घटनाएं घट जाने के बाद भी वह अद्भुत दृश्य मेरी आंखों के सामने आज भी वैसा ही बना हुआ है और मैं इसी आशा पर जिन्दा हूँ कि आपस के सन्देह की सब घटनाएं छिन्न-भिन्न हो जाएंगी। धर्म और सत्य का सूर्य अपने पूर्ण प्रकाश के साथ फिर उदय होगा और फिर वैसे स्वर्णिम दृश्य देखने में आयेंगे।”

हिन्दू संगठन का मतलब उनके लिए मुस्लिम-विरोध नहीं था, बल्कि हिन्दुओं के अपने अन्तर के कलुष को धोना था। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा था, "हिन्दुओं की तुलनात्मक दृष्टि से अवनति का मुख्य कारण बाल-विवाह और बाल-विधवाओं का पुनर्विवाह न होना है। हिन्दु-मुसलमानों के बीच दंगों और द्वेष का कारण हिन्दू बाल-विधवाओं की समस्या है..." इस संघर्ष से बचने का सर्वोत्तम मार्ग यह है कि हम अपनी स्त्रियों और बच्चों की रक्षा और देखभाल का प्रबन्ध स्वयं करें।

और यह भी कि यदि हिन्दू जाति को नाश से बचाना है तो वर्तमान जाति भेद की प्रथा जिसने हिन्दुओं को हजारों जाति-उपजातियों में बांट रखा है, अन्त कर देना चाहिए।”

स्वामी जी से कुछ बातों को लेकर मतभेद हो सकता है पर उनका सबसे बड़ा शत्रु भी उन पर यह दोष नहीं लगा सकता कि वे छद्म ओढ़ते थे। आर्य समाज की वेदी पर से अपने पहले भाषण में उन्होंने कहा था, “हम सबके कर्तव्य और मन्तव्य एक होवे।”

पालन करते रहे। वे तो बच्चे की तरह सरल प्राण थे। घृणा और द्वेष उन्हें छू तक न गये थे। संघर्ष केवल कुछ मूल्यां को लेकर था। उनका मूल्यांकन उनको उनके काल से जोड़ कर ही किया जा सकता है। श्रद्धा, गहरी धार्मिक भावना और त्याग-मय जीवन से ओत-प्रोत, स्पष्टवादी और अति साहसी, जिस काम को हाथ में लेते उसी के हो रहते। लिजलिजापन उन्हें जरा भी प्रिय नहीं था। अपने दोष निःसंकोच भाव से खोलकर रख देते थे। दूसरे के दोषों से परेशान हो उठते। अत्याचार का विरोध करना उनका सहज स्वभाव था। बहुत जल्दी वे अगली पंक्ति में इसलिए आ जाते थे कि उनका अन्तर्मन बाहरी कार्यों से तनिक भी भिन्न नहीं था। अपने विश्वास को जीना जानते थे और दूसरे के विश्वास की रक्षा करते थे।

सन् १९२६ के चुनाव में वे लाला लाजपतराय की नेशनलिस्ट पार्टी का समर्थन कर रहे थे। उनके पुत्र प्रो० इन्द्र कांग्रेस के समर्थक थे। जब लाला जी ने इन्द्र जी का हठ तोड़ने के लिए उन्हें स्वामी जी के सामने पेश किया तो उन्होंने यही कहा, “मैंने इसे विचार और कर्म की पूरी स्वतंत्रता दे रखी है।”

उनके ये ही गुण उनकी महानता की कसौटी थे। कभी-कभी उनकी दृढ़ता, उन की उदारता को ढक भी लेती थी और कूटनीति से अनभिज्ञ उनका सहज विश्वासी मन गलतफहमी पैदा करने का कारण हो जाता था। जब उन्होंने आर्य समाज में आने का निश्चय कर लिया तब उन्होंने अपने स्नेही पिता तक की चिन्ता नहीं की थी। आर्य समाज के सिद्धान्तों में उन्हें इतना विश्वास था कि युवावस्था में पत्नी की मृत्यु हो जाने पर भी उन्होंने दूसरा विवाह नहीं किया और समय आने पर अपनी सन्तान का विवाह, जाति-पाति के बन्धनों को तोड़ कर किया। अपने ही गुरुकुल में उन्हें बार-बार अपने सहयोगियों से संघर्ष करना पड़ा। हर तूफान को उन्होंने हंसते-हंसते अपनी वज्र जैसी छाती पर सहा लेकिन टस से मस नहीं हुए।

अपनी अस्मिता की पहचान में भटक रहे इस युग में उनका मूल्यांकन इसी दृष्टि से किया जा सकता है कि हम मानसिक दासता से मुक्ति पाकर जिस मार्ग को सही समझते हैं उसी को सबके प्रति द्वेष रहित होकर और पूर्वाग्रह से मुक्त कर सहज भाव से ग्रहण करें और फिर अधूरापन हमारे मार्ग की बाधा न बने।

यही होगा हमारा उनके प्रति श्रद्धा और कृतज्ञता का ज्ञापन।

अन्त में एक बार फिर मैं कुलपति श्री रामचन्द्र शर्मा और हिन्दी विभाग के अध्यक्ष प्रो० विष्णुदत्त राकेश के प्रति कृतज्ञता ज्ञापन करता हूँ कि उन्होंने मुझे इतने दिन तक एक महान् पावन चरित्र के साथ रहने का सुअवसर दिया। ऐसे पावन चरित्रों की पावन छाया में ही तो हमें प्राणदायिनी वायु प्राप्त होती है।

उनकी पावन स्मृति को मेरे शत-शत प्रणाम !

उजाले अपनी यादों के हमारे साथ रहने दो,

न जाने जिन्दगी की किस गली में शाम हो जाए।

श्री विष्णु प्रभाकर

हिन्दी नाटकों को युग बोध, मानवीय धरातल और विश्वव्यापी जीवन-संवेदनाओं से जोड़कर शिल्प और कथ्य के नवीन सांचों का निर्माण करने वाले साहित्यकार श्री विष्णु प्रभाकर का जन्म २१ जून, १९१२ को उत्तर प्रदेश के मुजफ्फरनगर जिले के एक गाँव में हुआ। कैशोर्य और यौवन बीता हिसार में। पारिवारिक कारणों से मेट्रिक पास करके ही सरकारी नौकरी से जुड़ना पड़ा किन्तु राष्ट्रभक्त स्वाधीनता के सिपाहियों और क्रान्तिकारियों से सम्पर्क और सहयोग के कारण अंग्रेजी शासन की नजरों में खटकने लगे। सरकारी नौकरी से त्यागपत्र देकर स्वतंत्र लेखन को आजीविका का साधन बनाया, तथा यायावरी वृत्ति ग्रहण कर साहित्य का साधक के रूप में देश की सांस्कृतिक और वैचारिक परम्पराओं का जायजा लिया। स्वतंत्र भारत में 'आकाशवाणी' के अधिकारी के रूप में हिन्दी-कार्यक्रमों को नये-नये आयाम देकर उसके सामर्थ्य की प्रतिष्ठा की। परायी आँच में तपे पवित्र मनुष्य की खोज में निरन्तर सचेष्ट रहे। उन्होंने निबन्ध, कहानी, गद्यगीत, उपन्यास, स्केच, संस्मरण, रिपोर्ताज, रेडियो नाटक, नाटक, एकांकी तथा जीवनी—सभी विद्याओं में अधिकारपूर्वक लिखा। लगभग चौदह वर्ष अपने व्यय पर देश-विदेश घूमकर बंगला उपन्यासकार शरत्चन्द्र के जीवन संवन्धी ज्ञात-अज्ञात तथ्यों की खोज की और फिर उनकी औपन्यासिक जीवनी, 'आवारा मसीहा' लिख कर हिन्दी ही नहीं, अपितु भारतीय भाषाओं के जीवनी साहित्य में 'मील का पत्थर' लगा दिया। एक कालजयी रचनाकार के जीवन के मार्मिक बिन्दुओं की गहरी प्रकट और वह भी उपन्यास के साँचे में ढली और जीवन के पवित्र-अपवित्र, कठोर और महीन धागों में बुनी।

उदात्त जीवन-मूल्यों के साथ-साथ यथार्थवादी स्थितियों के आर-पार देख सकने की अनाविल दृष्टि प्रभाकर जी की निजी विशेषता है। वह पुरानी पीढ़ी और नई संततियों के बीच सेतु हैं, उन्होंने प्राचीन और आधुनिक के सह-अस्तित्व से जीवन और साहित्य की नवीन मर्यादाएँ निमित्त की हैं। वह ऐसे सिरजनहार हैं जो स्वयं खाली रहे पर जिसे दिया उसे भरपूर कर दिया। रंगदर्शन और रंगकर्म की सूक्ष्म दृष्टि ने उनके एकांकियों को सफल बनाया, आदर्श और यथार्थ की चुनौतियों ने उनके कथा-साहित्य को सबलता दी तो मानव-मन की गहन अनु-

भूतियों और संवेदनाओं ने उनके संस्मरण और रेखाचित्रों को प्राणवान कर दिया। गांधी, दयानंद और मार्क्स की विश्वव्यापिनी चेतना ने उन्हें दलितों, पतितों और शोषितों में अहिंसा, समता, अन्याय-प्रताड़ना का विरोध, प्रेम और निर्भीकता खोजने-समझने की प्रेरणा दी, राष्ट्रीयतावादी युगबोध ने उन्हें 'प्रेमबन्धु' छद्म-नामधारी लेखक का बाना पहनाया, स्वाधीनता की लड़ाई के मोर्चे पर आर्य समाज के सुधारवादी सिपाही के रूप में उनकी जुझारू कलम विद्रोही के स्वर उद्धोषित करती रही, प्रेमचंद, शरत्चन्द्र और जैनेन्द्र ने उन्हें धरती से जुड़े साहित्य की बिरासत का सफल भागीदार समझा तथा मानव-मन की गहराइयों वाले अतल ताल में उतरते-उतरते जो सृजन के 'श्वेतकमल' बन गए, ऐसे सर्जना के वैष्णव, प्रगतिशील-आर्यसमाजी शैलीकार का नाम है विष्णु प्रभाकर। प्रभाकर, हिन्दी-साहित्य के कथाकारों में अत्यन्त प्रतिष्ठित नाम, बहु-आयामी प्रतिभापूर्ण, समर्थ और शिल्प सम्पन्न रचनाकार का नाम। यही कारण है, प्रभाकर जी की रचनाओं का देश-विदेश में अनुवाद हुआ है, वे चाव से पढ़ी और सराही गई हैं। सोवियत-लैंड-नेहरू पुरस्कार के अतिरिक्त उन्हें अन्य राष्ट्रीय-अन्तर्राष्ट्रीय सम्मान मिले हैं। वह एकांकीकार के रूप में प्रायः सभी विश्वविद्यालयों में पढ़े-पढ़ाए जाते हैं तथा उनकी रचनाओं पर अनेक शोध-ग्रन्थ लिखे जा चुके हैं।

अब तक प्रभाकर जी की साठ से ऊपर रचनाएं प्रकाशित हो चुकी हैं—कुछ प्रसिद्ध रचनाएं हैं—

उपन्यास : निशिकान्त, तट के बन्धन, स्वप्नमयी, दर्पण का व्यक्ति, कोई तो।
कहानी संग्रह : धरती अब भी घूम रही है, पुल टूटने से पहले, मेरा बतन, इक्यावन कहानियां, एक और कुत्ता, जिन्दगी : एक रिहर्सल। **नाटक :** नव-प्रभात, गांधार की भिक्षुणी, डाक्टर, युगे-युगे क्रान्ति, टूटते परिवेश, वन्दिनी, सत्ता के आर-पार, अब और नहीं। **एकांकी-संग्रह :** तीसरा आदमी, डरे हुए लोग, मैं भी मानव हूँ, दृष्टि की खोज, मैं तुम्हें क्षमा करूंगा। **जीवनी संस्मरण :** आबारा मसीहा, सरदार पटेल, काका कालेलकर, यादों की तीर्थयात्रा, मेरे अग्रज : मेरे मीत, मेरे हमसफर। **यात्रा-वृत्तान्त :** ज्योति-पुंज हिमालय। **निबन्ध :** जन-समाज और संस्कृति, क्या खोया क्या पाया। **नाट्य रूपान्तर :** होरी, सुनन्दा तथा बाल साहित्य की अनेक पुस्तकें।

डा० विष्णुदत्त राकेश

आचार्य एवं अध्यक्ष,

हिन्दी-विभाग,

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय